विवेक ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)
वर्ष: २२
अंक: १

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९८४ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

सह-व्यवस्थापक

स्वामी ज्ञानातीतानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर–४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(६४ वीं तालिका)

(३१ अक्तूबर १९८३ तक)

२०७६. श्री कालूराम मूलचन्द गट्टानी, होशंगाबाद ।
२०७७. प्रधान पाठक, पूर्व मा. शा., खौना, रायपुर ।
२०७८. प्रधान पाठक, पूर्व मा. शा., सारागाँव, रायपुर ।
२०७९. प्रधान पाठक, पूर्व मा. शाला, चरौदा, रायपुर ।
२०८०. श्री दानेश्वर प्रसाद वर्मा, रायपुर ।
२०८१. श्री बी. आर. अहार, रायपुर ।
२०८२. श्री के. के. दत्ता, बिलासपुर ।
२०८३. श्री लखनलाल गुप्ता, बिलासपुर ।
२०८४. श्री बी. एस. पमनानी, बिलासपुर ।
२०८५. श्री दुखीराम सोनी, बिलासपुर ।
२०८६. श्री ओमप्रकाश मुरारीलाल गुप्ता, बिलासपुर ।
२०८७. श्री वीरेन्द्र श्रीवास्तव, मनेन्द्रगढ़, सरगुजा ।
२०८८. श्री सुभाष बाबू शर्मा, बलरामपुर (उ. प्र.) ।
२०८९. श्री रवीन्द्र कुमार गनेरीवाला, कोटा (राज.)।
२०९०. प्रिंसिपल, धमतरी पालीटेकनिक, धमतरी ।
२०९१. श्री एम. एम. केलकर, रायपुर ।
२०९२. श्री लक्ष्मणप्रसाद पांडे, रायपुर ।
२०९३. प्रधान पाठक, शा. पूर्व मा. शा., पथरी, रायपुर ।

२०९४. प्रधान पाठक, शा. पूर्व मा. शा., तर्रा, रायपुर।

२०९५. स्वामी भुवनेश्वरानन्द, जयपुर (राज.)।

२०९६. श्री इन्दुशेखर कंसल, नई दिल्ली।

२०९७. श्री प्रमोद केशव नाईक, बम्बई।

२०९८. श्री गोपाल कृष्ण मोघे, इन्दौर।

२०९९. श्री मनमोहन भराणी, इन्दौर।

२१००. श्री अनिल कुमार बंसल, इन्दौर।

२१०१. श्री केशवकांत लक्ष्मीकिशोर, इन्दौर।

२१०२. श्री बद्रीप्रसाद खंडेलवाल, इन्दौर।

○○○

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्यौरा

१.	प्रकाशन का स्थान	–रायपुर
२.	प्रकाशन की नियतकालिता	–त्रैमासिक
३-५.	मुद्रक, प्रकाशक एवं संपादक	–स्वामी आत्मानन्द
	राष्ट्रीयता	–भारतीय
	पता	–रामकृष्ण मिशन, रायपुर
६.	स्वत्वाधिकारी	–रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ

स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द, स्वामी अभयानन्द,
स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी वन्दनानन्द,
स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द,
स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी आदिदेवानन्द,
स्वामी गीतानन्द

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) **स्वामी आत्मानन्द**

अनुक्रमणिका

○○○

१. मुक्ति का उपाय .. १

२. अग्नि-मंत्र (विवेकानन्द के पत्र) .. २

३. श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग (चौथा प्रवचन)
(स्वामी भूतेशानन्द) .. ६

४. श्रीरामकृष्ण-महिमा (४) (अक्षयकुमार सेन) .. २१

५. मानस-रोग : भूमिका (१/१)
(पण्डित रामकिंकर उपाध्याय) .. ३४

६. साधना (स्वामी वीरेश्वरानन्द) .. ५५

७. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प
(शरद् चन्द्र पेंढारकर) .. ६५

८. ईश्वर की प्राप्ति : अवतार-योग
(गीता प्रवचन-५८) (स्वामी आत्मानन्द) .. ७३

९. रसद्दार मथुर (५) नित्यरंजन चटर्जी) .. ९३

१०. विवेकानन्द का सन्देश (प्रेम सिंह) .. १००

११. आस्तिक और नास्तिक (डा. बृजबिहारी निगम) .. १०४

१२. श्रीरामकृष्ण की बोध-कथा .. ११४

१३. स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक
(ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य) .. ११५

१४. विवेकानन्द जयन्ती समारोह-१९८४ .. १२९

कवर चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रण स्थल : नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर-४५२००९

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २२] जनवरी–फरवरी–मार्च ★ १९८४ ★ [अंक १

मुक्ति का उपाय

मुजादिषीकामिव दृश्यवर्गात्
प्रत्यंचमात्मानमसंगमक्रियम् ।
विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं
तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ।।

---जैसे मूंज में से सींक को अलग किया जाता है, वैसे ही जो पुरुष अपने इस असंग और अक्रिय प्रत्यगात्मा को समस्त दृश्यवर्ग से पृथक् कर लेता है तथा सबका उसी में लय करके आत्मभाव में ही स्थित रहता है, वही मुक्त है।

—विवेकचूड़ामणि, १५५

अग्नि-मंत्र

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

अल्मोड़ा
३० मई, १८९७

प्रिय महाशय,

मैंने सुना है कि आपके ऊपर कोई अपरिहार्य पारिवारिक दुःख आ पड़ा है। यह दुःख आप-जैसे ज्ञानी पुरुष का क्या कर सकता है? फिर भी इस सांसरिक जीवन के सन्दर्भ में मित्रता के स्निग्ध व्यवहार की प्रेरणा से मेरे लिए इसकी चर्चा करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु वे दुःख के क्षण बहुधा आध्यात्मिक अनुभव को उच्चतर रूप से व्यक्त करते हैं। जैसे कि थोड़ी देर के लिए बादल हट गये हों और सत्यरूपी सूर्य चमक उठे। कुछ लोगों के लिए ऐसी अवस्था में आधे बन्धन शिथिल पड जाते हैं। सबसे बड़ा बन्धन है मान का—नाम डूबने का भय मृत्यु के भय से प्रबल है; और इस समय यह बन्धन भी कुछ ढीला दिखायी देता है। जैसे कि एक क्षण के लिए मन को यह अनुभव होता हो कि मानव-मत की अपेक्षा अन्तर्यामी प्रभु की ओर ध्यान देना अधिक अच्छा है। परन्तु फिर से बादल आकर घेर लेते हैं और वास्तव में यही माया है।

यद्यपि बहुत दिनों से मेरा आपसे पत्र-व्यवहार नहीं था, परन्तु औरों से आपका प्रायः सब समाचार सुनता रहा हूँ। कुछ समय हुआ, आपने कृपापूर्वक मुझे इंग्लैण्ड में गीता के अनुवाद की एक प्रति भेजी थी। उसकी जिल्द पर आपके हाथ की एक पंक्ति लिखी हुई थी। इस उपहार की स्वीकृति थोड़े मे शब्दों में दिये जाने के कारण मैंने

सुना कि आपको मेरी आपके प्रति पुराने प्रेम की भावना में सन्देह उत्पन्न हो गया ।

कृपया इस सन्देह को आधाररहित जानिए । उस संक्षिप्त स्वीकृति का कारण यह था कि पाँच वर्ष में मैंने आपकी लिखी हुई एक ही पंक्ति उस अँगरेजी गीता की जिल्द पर देखी, इस बात से मैंने यह विचार किया कि यदि इससे अधिक लिखने का आपको अवकाश न था तो क्या अधिक पढ़ने का अवकाश हो सकता है ? दूसरी बात, मुझे यह पता लगा कि हिन्दू धर्म के गौरांग मिशनरियों के आप विशेष मित्र हैं और दुष्ट काले भारतवासी आपकी घृणा के पात्र हैं ! यह मन में शंका उत्पन्न करनेवाला विषय था । तीसरे, मैं म्लेच्छ, शूद्र इत्यादि हूँ—जो मिले सो खाता हूँ, वह भी जिस किसी के साथ और सभी के सामने—चाहे दश हो या परदेश । इसके अतिरिक्त मेरी विचारधारा में बहुत विकृति आ गयी है—मैं एक निर्गुण पूर्ण ब्रह्म को देखता हूँ, और कुछ-कुछ समझता भी हूँ, और इने-गिने व्यक्तियों में मैं उस ब्रह्म का विशेष आविर्भाव भी देखता हूँ; यदि वे ही व्यक्ति ईश्वर के नाम से पुकारे जायँ तो मैं इस विचार को ग्रहण कर सकता हूँ, परन्तु बौद्धिक सिद्धान्तों द्वारा परिकल्पित विधाता आदि की ओर मन आकर्षित नहीं होता ।

ऐसा ही ईश्वर मैंने अपने जीवन में देखा है और उनके आदेशों का पालन करने के लिए मैं जीवित हूँ । स्मृति और पुराण सीमित बुद्धिवाले व्यक्तियों की रचनाएँ हैं और भ्रम, त्रुटि, प्रमाद, भेद तथा द्वेष भाव से परिपूर्ण हैं । उनके केवल कुछ अंश जिनमें आत्मा की व्यापकता और प्रेम की भावना विद्यमान है, ग्रहण करने के योग्य हैं,

शेष सबका त्याग कर देना चाहिए। उपनिषद् और गीता सच्चे शास्त्र हैं, और राम, कृष्ण, बुद्ध, चैतन्य, नानक, कबीर आदि सच्चे अवतार हैं; क्योंकि उनके हृदय आकाश के समान विशाल थे——और इन सबमें श्रेष्ठ हैं रामकृष्ण। रामानुज, शंकर इत्यादि संकीर्ण हृदयवाले केवल पण्डित मालूम होते हैं। वह प्रेम कहाँ है, वह हृदय, जो दूसरों का दुःख देखकर द्रवित हो ? पण्डितों का शुष्क विद्याभिमान और जैसे-तैसे केवल अपने आपको मुक्त करने की इच्छा ! परन्तु महाशय, क्या यह सम्भव है ? क्या इसकी कभी सम्भावना थी या हो सकती है ? क्या अहंभाव का अल्पांश भी रहने से किसी चीज की प्राप्ति हो सकती है ?

मुझे एक बड़ा विभेद और दिखायी देता है——मेरे मन में दिनोंदिन यह विश्वास बढ़ता जा रहा है कि जाति-भाव सबसे अधिक भेद उत्पन्न करनेवाला और माया का मूल है। सब प्रकार का जाति-भेद चाहे वह जन्मगत हो या गुणगत, बन्धन ही है। कुछ मित्र यह सुझाव देते हैं, "सच है, मन में ऐसा ही समझो, परन्तु बाहर व्यावहारिक जगत् में जाति-जैसे भेदों को बनाये रखना उचित ही है।"

...मन में कहने के लिए एकता का भाव (जिसके पीछे कायरतापूर्ण निर्वीर्य चेष्टा हो) और बाहर में राक्षसों का नरक-नृत्य——अत्याचार और उत्पीड़न——निर्धनों के लिए साक्षात् यमराज ! परन्तु वही अछूत काफी धनी हो जाय तो 'अरे, वह तो धर्म का रक्षक है।'

सबसे अधिक अपने अध्ययन से मैंने यह जाना है कि धर्म के विधि-निषेधादि नियम शूद्र के लिए नहीं हैं; यदि वह भोजन में या विदेश जाने में कुछ विचार दिखाये तो उसके लिए वह सब व्यर्थ है, केवल निरर्थक परिश्रम।

मैं शूद्र हूँ, म्लेच्छ हूँ, इसलिए मेरा इन सब झंझटों से क्या सम्बन्ध ? मेरे लिए म्लेच्छ का भोजन हुआ तो क्या, और शूद्र का हुआ तो क्या ? पुरोहितों की लिखी हुई पुस्तकों ही में जाति जैसे पागल विचार पाये जाते हैं, ईश्वर द्वारा प्रकट की हुई पुस्तकों में नहीं । अपने पूर्वजों के कार्य का फल पुरोहितों को भोगने दो; मैं तो भगवान् की वाणी का अनुसरण करूँगा, क्योंकि मेरा कल्याण उसी में है ।

एक और सत्य, जिसका मैंने अनुभव किया है, वह यह है कि निःस्वार्थ सेवा ही धर्म है और बाह्य विधि, अनुष्ठान आदि केवल पागलपन है, यहाँ तक कि अपनी मुक्ति की अभिलाषा करना भी अनुचित है । मुक्ति केवल उसके लिए है जो दूसरों के लिए सर्वस्व त्याग देता है, परन्तु वे लोग जो 'मेरी मुक्ति', 'मेरी मुक्ति' की अहर्निश रट लगाये रहते हैं, वे अपना वर्तमान और भावी वास्तविक कल्याण नष्ट कर इधर-उधर भटकते रह जाते हैं । ऐसा होते मैंने कई बार प्रत्यक्ष देखा है । इन विविध विषयों पर विचार करते हुए आपको पत्र लिखने का मेरा मन नहीं था । इन सब मतभेदों के होते हुए भी यदि आपका प्रेम मेरे प्रति पहले-जैसा ही हो तो इसे मैं आनन्द का विषय समझूँगा ।

आपका,
विवेकानन्द

○

हमारा उद्देश्य है—आचाण्डाल प्रत्येक को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का अधिकार प्राप्त कराने में सहायता करना ।

— **स्वामी विवेकानन्द**

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

चौथा प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं।—स०)

ठाकुर के साथ पहली मुलाकात के दिन मास्टर महाशय की कोई अधिक बातचीत नहीं हुई। यह दूसरी मुलाकात है। ठाकुर मानो मास्टर महाशय के सम्बन्ध में स्वयं अच्छी तरह से जान लेना चाहते हैं। मास्टर महाशय का विवाह हो चुका है, यहाँ तक कि बच्चे भी हो गये हैं, यह सुनकर ठाकुर रामलाल से कहते हैं, "अरे! विवाह कर चुका है; रे! बच्चे हो गये हैं।" उनके इस कथन में मास्टर महाशय मानो आक्षेप का भाव देखते हैं। इसलिए वे कुछ अटपटा-सा अनुभव करते हैं। 'वचनामृत' में हम देखेंगे कि ठाकुर इस तरह के प्रश्न सबसे नहीं करते थे।

इस प्रकार के प्रश्न वे केवल उनसे करते थे, जिन्हें वे अपने अन्तरंग के रूप में अनुभव करते। मास्टर महाशय को देखकर वे प्रारम्भ से ही समझ गये थे कि एक विशेष कार्य के लिए यंत्र के रूप में वे उनका व्यवहार करेंगे। इसीलिए वे चाहते थे कि यंत्र त्रुटिशून्य हो। मास्टर महाशय विवाह कर चुके थे, उनके सन्तान आदि भी हो गयी थी,

अतः संसार के दायित्व का बोझ उनके सिर पर आ पड़ा था। ऐसी दशा में उनकी स्वतंत्रता बहुत कुछ सीमित हो गयी थी। इसीलिए तो 'विवाह हो चुका है' यह सुनकर ठाकुर खेद प्रकट करते हैं। ऐसा नहीं कि संसार में रहकर किसी को धर्म-जीवन का लाभ नहीं होगा; जिसका होना है उसे हो, लेकिन वे तो मास्टर महाशय का व्यवहार पूरी तरह से अपने हाथ के यंत्र के रूप में करना चाहते थे। वे ऐसा नहीं चाहते थे कि मास्टर महाशय कुछ क्षण उनके बनकर रहें और कुछ क्षण संसार के। ठाकुर की बातों से ऐसा ही लगता है। पर यह भी सही है कि बाद में जब मास्टर महाशय संसार से निकल आना चाहते थे, तब ठाकुर ने उन्हें मना किया। हमने देखा है कि ठाकुर ने इस सम्बन्ध में बहुतों को यही उपदेश दिया है कि जब ससार का दायित्व सिर पर आ पड़ा है, तब उसे छोड़कर भागना उचित नहीं जब तक वह दायित्व नहीं आया है, तब तक विचार करो, अपने को जांचकर देखो, तौलो कि कौनसा मार्ग तुम्हारे लिए अधिक सुविधा का होगा। वे जैसे विचार न करके संसार के बन्धन में किसी का फँसना पसन्द नहीं करते थे, वैसे ही विचार करके संसार में प्रवेश करने के बाद उसे छोड़कर भागना भी पसन्द नहीं करते थे। इसीलिए हाजरा को जोर देकर घर भेज दे रहे हैं। नरेन्द्रनाथ हाजरा की ओर से पैरवी करते हैं तथा घर लौटने के लिए हाजरा पर दबाव न डालने की सलाह देते हैं। लेकिन ठाकुर नहीं सुनते। संसार का दायित्व जब तक है, तब तक उसकी अवहेलना करने से नहीं चलेगा। फिर ये ही ठाकुर जिन लोगों को अपनी त्यागी सन्तानों के रूप में

तैयार करेंगे, उनमें से किसी के विवाह करने की बात सुन ऐसा अनुभव करते हैं मानो किसी ने उनके सिर पर लाठी मार दी हो।

जिनका वे अपने हाथ के यंत्र के रूप में व्यवहार करेंगे, उनको सही-सलामत होना चाहिए, पूरी तरह से उनका अपना होना चाहिए। वहाँ बटवारा होने से यंत्र सही-सलामत नहीं रहता।

श्री 'म' के शिक्षागुरु

ठाकुर मास्टर महाशय से प्रश्न करते हैं, "अच्छा, तुम्हारी पत्नी कैसी है? विद्याशक्ति कि अविद्याशक्ति?" 'विद्याशक्ति', 'अविद्याशक्ति'—ये सब बातें मास्टर महाशय ने कभी सुनीं नहीं। 'विद्या' का अर्थ उन्होंने समझा पढ़ा-लिखा, इसलिए यह सोचा कि ठाकुर जानना चाहते हैं कि मेरी पत्नी पढ़ी-लिखी है या नहीं। साधारणतया हम ज्ञानी का अर्थ लेते हैं वह, जो बहुत पढ़ा-लिखा हो, और इसलिए जो पढ़ा-लिखा नहीं है, उसे अज्ञानी कहते हैं।

यही सोचकर मास्टर महाशय ने उत्तर दिया, "जी, अच्छी है, लेकिन अज्ञान है।" ठाकुर खिन्न होकर बोले, "और तुम ज्ञानी हो? मास्टर महाशय ने ठाकुर से ज्ञान-अज्ञान का नया अर्थ सीखा; उन्होंने सीखा कि भगवान् को जानने का नाम ही ज्ञान है और उन्हें न जानने का नाम ही अज्ञान। ठाकुर के पास मास्टर महाशय के पाठ का यह श्रीगणेश हुआ।

मास्टर महाशय के अहंकार को चूर्ण करने के लिए ठाकुर ने मानो जान-बूझकर श्लेषात्मक शब्द का प्रयोग किया, क्योंकि जब तक मनुष्य के भीतर अहंकार रहता है, तब तक उस पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

वह सोचता है कि 'अब और क्या उपदेश लूँगा ? मैं क्या कम जानता हूँ ?' मास्टर महाशय उन दिनों के एक उच्च शिक्षित व्यक्ति थे; लड़कों को सिखाना-पढ़ाना ही उनका काम था। इस प्रकार के मास्टर महाशय को एक निरक्षर भट्टाचार्य के चरणों में एक शिक्षार्थी के रूप में बैठना होगा, यह बात वे कभी सोच भी नहीं सकते थे। ठाकुर का उद्देश्य था मास्टर महाशय के अहंकार को चूर्ण करना। इसीलिए वे श्लेषात्मक प्रश्न करते हैं, "और तुम ज्ञानी हो ?" इस बात से मास्टर महाशय के अहंकार को मर्मान्तक आघात लगा।

इसके बाद आया ठाकुर का एक कठिन प्रश्न। उन्होंने पूछा, "तुम्हारा विश्वास साकार पर है कि निराकार पर ?"

ईश्वर--साकार और निराकार

ऊपरी दृष्टि से इस प्रकार का प्रश्न करने का कारण समझना कुछ कठिन होगा, लेकिन थोड़ा विचार करने पर समझ में आ जाएगा कि इस प्रकार प्रश्न करने के पीछे ठाकुर का क्या उद्देश्य था। उन दिनों नवयुवकों में ब्राह्म-विचारधारा का बड़ा प्रभाव था और इस समाज के सिद्धान्त के अनुसार मूर्तिपूजा अज्ञानता की पराकाष्ठा थी। इस परिप्रेक्ष्य से देखने पर ठाकुर का इस प्रकार से प्रश्न करने का कारण मिल जाएगा। प्रश्न सुनकर मास्टर महाशय सोचने लगे कि क्या साकार और निराकार दोनों ही सत्य हो सकते हैं ? मास्टर महाशय का विश्वास निराकार पर है, यह बात सुनकर ठाकुर बोले, "ठीक है। किसी एक पर विश्वास रहने से ही हुआ। निराकार पर

विश्वास, यह तो अच्छा ही है । पर ऐसा न सोचना कि केवल यही सत्य है और बाकी सब मिथ्या । यह जान रखो कि निराकार भी सत्य है और साकार भी सत्य है ।" ठाकुर ने यह बात बार-बार कही है कि भगवान् के भाव की इति नहीं की जा सकती, उनका भाव अनन्त है । हम ऐसी कल्पना न करें कि वे इतना ही हो सकते हैं, इससे अधिक नहीं । बल्कि नास्तिक होना ठीक है, पर इस प्रकार की संकीर्ण बुद्धि ठीक नहीं । जो नास्तिक है, उसमें कभी आस्तिक बुद्धि आ भी सकती है, पर संकीर्णता और दुराग्रह को काटना कठिन होता है । ठाकुर का प्रथम उपदेश यही से आरम्भ हुआ—यह मास्टर महाशय के साथ उनके वार्तालाप का आदिपर्व है । लेकिन ठाकुर ने जो यह कहा कि ईश्वर साकार है और निराकार भी, यह मास्टर महाशय के लिए समस्या बन गयी । मास्टर महाशय तर्कशास्त्र पढ़े हुए व्यक्ति थे । तर्कशास्त्र यही कहता है कि साकार और निराकार परस्पर-विपरीत हैं । अब ये दो विपरीत धर्म एक अधिकरण में तो रह नहीं सकते, इसलिए ठाकुर की इस बात से मास्टर महाशय कुछ भ्रम में पड़ गये ।सोचने लगे,सफेद वस्तु—जैसे दूध—क्या काली भी हो सकती है?

यदि कहें कि वस्तु सफेद है, तब स्पष्ट है कि वह काली नहीं हो सकती । पर यदि हम उसमें स्याही मिला दें तब ? दूध में स्याही मिलाकर उसे काला कर सकते हैं या नहीं?—कर सकते हैं, पर ध्यान रखें, यह जो रंग काला हुआ, वह उसका स्वाभाविक रंग नहीं है, अर्थात् यह उसका धर्म नहीं है । अन्य धर्म उसके साथ मिला हुआ है । दार्शनिकों के विचारों का यहीं पर समापन हो जाता है कि ईश्वर यदि निराकार है, तब तो साकारभाव उस पर आरोपित

है। इसी को लेकर ढेर के ढेर दर्शनशास्त्र लिख डाले गये हैं, फिर भी आज तक दार्शनिक जगत् में इसकी मीमांसा नहीं हो पायी है। और यदि भूत को देखते हुए हम भविष्य की कल्पना करें, तब तो यही कहना होगा कि इस प्रश्न का समाधान कभी नहीं होगा। कारण यह है कि हम अपनी बुद्धि के द्वारा उसे समझने की चेष्टा करते हैं, जो बुद्धि से अतीत है। पर क्या यह कभी सम्भव है? 'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्' — जो वस्तु विचार से अतीत है, उसे कभी भी बुद्धि के द्वारा समझने की चेष्टा न करो। यह बात कौन कहते हैं? — वे जिन्होंने तर्क करते हुए चरम गवेषणा की है। तर्क के द्वारा जहाँ तक छान-बीन हो सकती है, वहाँ तक करके और सब देखने-सुनने के बाद वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि तर्क के द्वारा उन्हें समझने की चेष्टा न करो; करने से भी नहीं समझ पाओगे।

ईश्वरतत्त्व — तर्कातीत

श्रुति बार-बार यह कहती है कि मनुष्य का मन वहीं तक क्रियाशील हो सकता है, जहाँ तक उसके साधारण ज्ञान की पहुँच है। जैसे, मैं द्रष्टा हूँ, मैं जो देखता हूँ, जो अनुभव करता हूँ, वह मेरी दृश्य वस्तु है। इस दृश्य के भीतर अनेक प्रकार की विचित्रता है। हमारा न्यायशास्त्र इसी वैचित्र्य के भीतर काम करता है। न्यायशास्त्र ही क्यों, विज्ञान के द्वारा भी हम जितनी दूर आगे ज़ा सकते हैं, वह सभी प्रत्यक्ष रूप से हो या परोक्ष रूप से, पंचेन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान पर ही आधारित है। और इस पंचेन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान को ही आधार बनाकर हम समस्त विज्ञान की गवेषणा करते हैं। शायद हमने किसी ऐसी वस्तु का आविष्कार किया, जिसे न हम आँख से देख सकते हैं,

न कान से सुन । अब भले ही वह साक्षात् दिखायी नहीं देती, फिर भी परोक्ष रूप से उसे पंचेन्द्रिय का विषय होना चाहिए, नहीं तो विज्ञान उसे स्वीकार नहीं करेगा । ठीक इसी प्रकार के पंचेन्द्रियग्राह्य ज्ञान की सहायता से हम भगवान् को भी समझना चाहते हैं । समझना चाहते हैं इसलिए हम भगवान् की कल्पना करते हैं; आँखों से तो देख नहीं पाते, पर तर्क की सहायता से समझने की चेष्टा करते हैं । जैसे इस जगत् की सृष्टि हुई है, अतएव कोई एक सृष्टिकर्ता है, और वह सृष्टिकर्ता ही भगवान् है । अब प्रश्न है कि जगत् की यह जो सृष्टि हुई है, यह हमें किसने बताया ? अन्य किसी ने नहीं बताया, पर यह हमारा अपना ही अनुभव है कि जो कुछ सम्मिलित होकर उत्पन्न होता है, उसको उत्पादित करने के लिए या उपादानों को एक साथ मिलाने के लिए किसी एक शक्ति का होना आवश्यक है । इस शक्ति को ही हम 'ईश्वर' कहते हैं । उस शक्ति, उस ईश्वर ने ही परमाणओं को या उनसे भी सूक्ष्म यदि कोई वस्तुएँ हों तो उन्हें विभिन्न प्रकार से विभिन्न प्रणालियों के द्वारा सम्मिलित करके इस जगत् की सृष्टि की है । हम इतनी कल्पना कर सकते हैं । इससे अधिक अकाट्य प्रमाण और नहीं है । संसार एक वृक्ष है । न्यायशास्त्र कहता है कि इस संसार-वृक्ष का बीज वह ही है, जिससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है । किन्तु इसके द्वारा क्या इस बीज के सम्बन्ध में कुछ जाना जा सकता है ? उस स्वरूप के सम्बन्ध में हम कितने ही प्रकार के सिद्धान्त देखते हैं । ये सब परस्पर-विरोधी सिद्धान्त कभी भी सत्य नहीं हो सकते । इनमें से किसी भी सिद्धान्त को ले लें, उसकी सत्यता के सम्बन्ध में पर्याप्त सन्देह का

कारण है । अतएव युक्ति-तर्क के क्षेत्र में धर्म या ईश्वर के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान कहाँ है ? ईश्वर के सम्बन्ध में तो बात दूर रही, हमें अपने ही सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान नहीं है । 'मैं' कहने से क्या बोध होता है, यह भी हम नहीं जानते । जब इसी विषय में तर्क किसी निश्चित सिद्धान्त पर नहीं पहुँच पाता, तब यदि ईश्वर के सम्बन्ध में न पहुँच पाता हो तो इसमें आश्चर्य क्या ? तो क्या हम विचार न करें ? ठाकुर अधिकारी-भेद से किसी-किसी को तो विचार करने की बात कहते थे और अन्य दूसरों को विचार करने से मना करते थे । मास्टर महाशय को शपथ दिलाते हुए वे कहते हैं, "कहो, विचार और नहीं करूँगा ।" कारण, ठाकुर चाहते थे कि मास्टर महाशय उनके भाव को बिना किसी editing (संशोधन) के दूसरों के सामने रखें। इसीलिए मास्टर महाशय के लिए काम था—बिना विचार किये ग्रहण और उसे ठीक उसी प्रकार से बिना व्याख्या के दूसरों को प्रदान । एक बार जब तारक मास्टर महाशय के समान उनके उपदेशों को लिखकर रख ले रहे थे, तब ठाकुर ने उनको मना करते हुए कहा था, "अरे, वह काम तेरे लिए नहीं है ।" जिसके लिए जो कार्य निर्दिष्ट था, उसे उन्होंने उसी कार्य के लिए तैयार किया । तभी तो उन्होंने मास्टर महाशय को हिदायत दी कि वे बिना किसी प्रकार विचार किये उनके भाव को बिना किसी हेर-फेर के——वह जैसा है वैसा——लोगों के सामने रख दें । यदि वे ऐसा न करते, तो मास्टर महाशय के अन्तःकरण में तर्क करने की जो मनोवृत्ति छिपी हुई थी, वह उनके उद्देश्य को व्यर्थ कर दे सकती थी । अतएव ठाकुर ने सोचा कि मास्टर महाशय के अहंकार को चूर-

चूर कर देना होगा और वह भी प्रारम्भ में ही करना होगा। यह एक बात थी। दूसरी बात यह थी कि मनुष्य के लिए परस्पर-विरोधी भावों का एकत्र समावेश भले ही असम्भव प्रतीत हो, पर ईश्वर के लिए वह बिलकुल ही असम्भव नहीं है। तभी तो ठाकुर ने मथुरबाबू को लाल जवा के एक पौधे की एक टहनी तोड़कर उसमें लाल और सफेद दो रंगों के फूल दिखा दिये थे और मथुरबाबू को स्वीकार करना पड़ा था कि जिन्होंने नियमों की सृष्टि की है, वे इच्छा करने से किसी भी समय उन नियमों से बाहर भी जा सकते हैं। यह जो तर्क से अतीत तत्त्व है, उसे हम अपनी सीमित बुद्धि से नहीं पकड सकते——यह दूसरों को समझाना तो दूर की बात है, हम अपने आप को नहीं समझा पाते; विशेषकर बुद्धिमानों को यह बात समझाना और भी कठिन है।

हम लोग कई बार कहते हैं, "भगवान् सब कर सकते हैं।" पर यह केवल बात की बात है। इसके साथ हमारे अन्तःकरण का कोई योग नहीं होता। तभी तो दूसरे ही क्षण यदि कोई ऐसी घटना घट जाय, जो हमें पसन्द न हो, तो हम कह उठते हैं, "भगवान्, तुमने यह क्या किया!" हमारा आशय यह होता है कि भगवान् का ऐसा करना उचित नहीं हुआ। हम जो कहते हैं, वह सोच-विचारकर, तौलकर, गम्भीरता से नहीं कहते। किन्तु ठाकुर की हर बात खब नाप-तौलकर कही गयी है——नाप-तौलकर इसलिए जिससे संशय-सन्देह की गुंजाइश न रह जाय। हमारे एक पुराने स्वामीजी विशेष सावधान कर देते थे कि ठाकुर के उपदेशों को लोगों के सामने रखते समय कहीं तनिक भी इधर-उधर न हो। हम कई

बार ठाकुर के उपदेशों को आधुनिक भाषा में व्यक्त करने के लिए अथवा उन्हें सभा-समारोह में प्रस्तुत करने योग्य बनाने के लिए उन पर कुछ प्रसाधन चढ़ा दिया करते हैं। उदाहरणार्थ, ठाकुर ने जहाँ पर 'कामिनी-कांचन' कहा है, हम बहुधा उसे 'काम-कांचन' कह देते हैं। इस प्रसंग में उक्त स्वामीजी कहते, "देखो, ठाकुर की बातें हैं मंत्र; उन मंत्रों का व्यवहार उन्होंने इसी प्रकार क्यों किया है, इसका कारण खोजने पर तुम्हें इसमें भी एक विशेष तात्पर्य निहित मिलेगा। हम लोग काम-कांचन शायद इसलिए कह देते हैं, जिससे महिलाओं के मन में किसी प्रकार का असन्तोष न पैदा हो। लेकिन ठाकुर जो बातें कहते थे, उनमें इस प्रकार abstract या व्यक्ति-निरपेक्ष भाव नहीं होता था, वे तो अपनी बात बिलकुल स्पष्ट कहने के आदी थे। उस समय उनकी बातें मानो हमारे सामने साकार हो उठती थीं। जहाँ पर मन में वासना के उठने की सम्भावना हो सकती हो, वहाँ पर उन्होंने 'कामिनी' शब्द का उल्लेख किया है, नारी को छोटा करने के लिए नहीं। ठाकुर जानते थे कि इन नारियों में वही जगन्माता विद्यमान हैं, फिर भी वे कहते थे कि शक्ति का तारतम्य है, प्रकाश का तारतम्य है।"

कहीं पर वह जगन्माता "सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी"—विद्यामाया, परमाविद्या अथवा मुक्ति के कारण के रूप में विद्यमान है, तो कहीं पर वह "संसार-बन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी"—संसार-बन्धन के कारण के रूप में स्थित है।

क्षेत्र या पात्र के अनुसार एक ही शक्ति दो रूपों में प्रकाशित हो रही है, कहीं वह बन्धन की सृष्टि कर रही

है तो कहीं बन्धन का मोचन। कहीं अभय दे रही है तो कहीं संहार कर रही है। मनुष्य के लिए भले ही ये दोनों भाव परस्पर-विरोधी दिखें, पर उसके लिए नहीं हैं। भागवत कहता है, 'त्वयीश्वरे ब्रह्मणि न विरुध्यते'— तुम ईश्वर हो, ब्रह्म हो, तुम्हारे लिए ये दोनों विरुद्ध नहीं हैं। इसी प्रकार साकार और निराकार भले ही हमारी दृष्टि में परस्पर-विरोधी हों, पर ईश्वर की दृष्टि में तनिक भी विरुद्ध नहीं हैं।

ठाकुर कहते हैं, "निराकार भी सत्य है और साकार भी सत्य है।"

विभिन्न मतवाद

साधारणतया कोई वेदान्तवादी—चाहे वह द्वैतवादी हो अथवा विशिष्टाद्वैतवादी या अद्वैतवादी, चाहे कुछ भी क्यों न हो—यह बात स्वीकारना नहीं चाहता। अद्वैतवादी कहता है—भगवान् कहो या स्रष्टा, जो जगत् का आदि है, वह निर्गुण है, निराकार और निरवयव है। उपनिषद् की भाषा में वह 'अस्थूलम्', 'अनणु', 'अह्रस्वम्', 'अदीर्घम्', 'अच्छायम्' है। बस, कुछ नेतिवाचक शब्दों की समष्टि खड़ी कर दी! फिर ये उपनिषद् ही उसके सम्बन्ध में यह भी कहते हैं कि वह 'सर्वकामः', 'सर्वरसः' और 'सर्वगन्धः' है अर्थात् उसके भीतर सब प्रकार का भाव विद्यमान है। ब्रह्म में इन दो प्रकार के परस्पर-विपरीत धर्मों के एक साथ होते हुए भी श्रुति कहती है कि ब्रह्म के भीतर कोई विरोध नहीं है। अब इसकी मीमांसा करने में प्रवृत्त हो दार्शनिक अपनी सीमित बुद्धि की सहायता से इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि एक तो हुआ सत्य और दूसरा हुआ आरोपित अथवा मिथ्या। अतः एक दल कहता है, "यह जो

बहुरूपता है, विशिष्टता है, यह सब मिथ्या है । जो सब रूपों और प्रकारों से अतीत है, वही सत्य है, और उसके जितने वैशिष्ट्य हैं, ठाकुर जिन्हें 'रंग-बिरंग' कहते थे, वे सब मिथ्या हैं ।" उधर दूसरा एक दल कहता है कि उसके भीतर ही रंग-बिरंग सब है । तुम लोग पास जाओगे, तभी तो समझ सकोगे । दूर से देखने से कैसे समझोगे ? सूर्य दूर से एक पुंजीभूत तेज के रूप में दिखता है । पास में जाने पर दिखेगा कि उसमें अनेक प्रकार की विचित्रताएँ हैं । ज्ञानी लोग दूर से देखकर, एक आभास पाकर सोचते हैं कि हम सब समझ गये। इस प्रकार, एक दल है जो ज्ञानियों को काट देता है और ये ज्ञानी उन लोगों को भ्रान्त कह देते हैं, जो भगवान् में वैचित्र्य देखते हैं । अद्वैत-वादियों ने कहा कि हमने मीमांसा कर ली है । क्या मीमांसा कर ली है?—यह कि ये जो द्वैतवादी हैं, वे भगवान् के स्वरूप को लेकर झगड़ा करते हैं—कोई कहता है उनके चार हाथ हैं, कोई कहता है दस हाथ हैं, इत्यादि । हम उनसे कहते हैं कि भई, यह सब मिथ्या है । अतः उनमें से किसी के साथ हमारा झगड़ा नहीं है, क्योंकि हम जानते हैं कि वे सब के सब भ्रान्त हैं । बड़ी सुन्दर मीमांसा हो गयी न ! सबको भ्रान्तों के दल में फेंक, हम एक ऊँचे मंच पर जाकर खड़े हो स्वयं को उन लोगों से पृथक् कर लेते हैं और कहते हैं—मीमांसा हो गयी! ऐसी ही मीमांसा द्वैतवादी भी करते हैं, कहते हैं, "संसार को एक अद्वैतमत देकर मोहग्रस्त करने के लिए भगवान् ने शंकराचार्य को पृथ्वी पर भेजा था, क्योंकि इस जगत् को यदि माया से न ढका जाय, तब तो सभी लोग 'हरि-हरि' कहकर मुक्त हो जाएँगे !" ठाकुर के कथन का तात्पर्य यह है कि जिस सिद्धान्त पर

तुम पहुँचना चाहते हो, सोचो तो उसके सम्बन्ध में तुम्हारी जानकारी भला कितनी है ?

ठाकुर उपमा देते हुए पद्मलोचन की बात कहते हैं। अनेक पण्डित यह विचार करने के लिए बैठे थे कि शिव बड़े हैं या विष्णु ? हम जब पुराण आदि ग्रन्थ पढ़ते हैं, तब हमारे मन में भी ऐसे विचार उठते हैं। कौन बड़ा है ? एक-एक स्थान पर एक-एक देवता की जो दुर्दशा की गयी है, उसकी सीमा नहीं है। इससे बुद्धिविभ्रम होता है, समस्या पैदा होती है। अतः फैसला फिर तलवार की सहायता से होता है। इस प्रकार तलवार की सहायता से फैसला संसार में अनेक बार हुआ है। इतिहास में देखा जाता है कि शुरू-शुरू में कहीं पर अनेक देवता थे। उनमें प्रधान कौन है इसका फैसला शस्त्रों से होता था। एक-एक दल के एक-एक देवता होता था। जो दल प्रधान होता, उसका देवता भी प्रधान हो जाता। देवताओं की प्रधानता इसी प्रकार तय होती थी और उस समय वही सर्वसाधारण तरीका था। जो हो, विष्णु बड़े हैं या शिव, इसका फैसला पण्डितगण नहीं कर सके। तब पद्मलोचन के पास समाधान पाने के लिए जाना पड़ा। पद्मलोचन बोले, "भई, हमारे चौदह पुरखों में से किसी ने न तो शिव को देखा है, न विष्णु को, अतः कैसे बताऊँ कि कौन बड़ा है और कौन छोटा ?" ऐसी बात कहने का साहस हममें होना चाहिए। अपने मन में यह धारणा स्पष्ट होनी चाहिए कि मैं इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता।

अतएव जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर या तो साकार हैं या फिर निराकार, पर वे एक ही समय साकार और निराकार नहीं हो सकते, तब हम अपने सीमित भावों को

ही बाहर प्रकट करते हैं ।

श्रीरामकृष्ण और मत-समन्वय

आज शायद हम सोचते हैं कि यह क्या पागलपन है ? लेकिन ठाकुर के आने के पहले यह पागलपन है ऐसा भाव मन में नहीं उठता था । श्रीरामकृष्ण के आने से पूर्व जनसामान्य में ऐसे उदार भाव का प्रसार संसार में कभी नहीं देखा गया । जहाँ पर कुछ उदार भाव रहता भी, वहाँ भी उदारता वैसी असीम न होती, यानी कि वहाँ भी कुछ न कुछ संकोच, कुछ न कुछ सन्देह रह ही जाता था । 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' में है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।

—विभिन्न मार्गों से होकर जैसे जलप्रवाह समुद्र में पहुँचते हैं, उसी प्रकार समस्त मनुष्य भी तुम्हारे पास पहुँचते हैं । पर यह जो 'ऋजु-कुटिल' है, इतना तो साथ रह ही जाता है । हमारा वाला कुटिल और तुम्हारा वाला ऋजु—यह कोई नहीं कहेगा । कहेगा—तुम्हारा ही कुटिल और हमारा ऋजु । लेकिन ठाकुर के पास ऋजु-कुटिल कुछ भी नहीं है । तभी तो वे कहते थे, "यह क्या एक 'पों' धरे बैठे हो ?"

जिसका आस्वादन करना होगा, वह कितना रंग-बिरंगा है, उसमें कितना वैचित्र्य है ! परिपूर्ण अनुभूति वहीं होगी, जहाँ द्वैत और अद्वैत का समन्वय होगा । इसीलिए इस समन्वयाचार्य की प्रारम्भ से एक ही बात है कि वे साकार भी हैं और निराकार भी हैं । उस बहुरुपिये की बात को याद करो, वह कभी लाल तो कभी नीला रहता है, कभी पीला तो कभी और कुछ हो जाता है, फिर कभी-कभी

उसके कोई रंग ही नहीं रहता । इन सब बातों को पकड़ने पर ही उस बहुरूपिये को पकड़ा जा सकता है । ऐसा न हो तो दृष्टि एकांगी हो जाती है । और हमारे जीवन की विडम्बना यह है कि ऐसी एकांगी और सीमित बुद्धि लेकर हम उस पूर्णांग और असीम को समझना चाहते हैं ! परिणाम जो होना चाहिए, हमारा वही हुआ है ।

अतएव उस अपरिच्छिन्न तत्त्व को जानने के लिए हमें अपनी दृष्टि को उदार करना होगा । हम यदि दूसरों का भाव न समझ सकते हों, तो हमें अपने को यह समझाना होगा कि इसका कारण हमारी ही अपूर्णता है, उनके भाव की क्षुद्रता नहीं । यह समझौता नहीं है, सहिष्णुता नहीं है; स्वामीजी ने कहा है—यह toleration नहीं, यह acceptance है, सहन नहीं, ग्रहण। हम स्वीकार कर लेते हैं कि भगवान् का कोई अन्त नहीं है । हम उन्हें जितने रूपों में देखते हैं, वह सब तो वे हैं ही, फिर जो रूप हमारी समझ से परे है, वह भी वे ही हैं । यही ठाकुर की शिक्षा का मूल-मंत्र है, जो वे मास्टर महाशय को प्रारम्भ में ही सिखाते हैं; और इसलिए सिखाते हैं कि वे चाहते हैं कि ये मास्टर महाशय ही उनके भावों के परोसनेवाले बनें । आज घर-घर में उनकी वाणी प्रचारित होवे, अज्ञान का गहरा अन्धकार दूर हो जावे, हृदय-हृदय में ज्ञान का आलोक प्रज्वलित हो उठे, दिग्दिगन्त में उनके वचनामृत की अमृतमयी मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठे ।

○

श्रीरामकृष्ण-महिमा (४)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंग-भाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन बॉयेज़ होम, रहड़ा, पश्चिम बंगाल में कार्यरत हैं।—स०)

(गतांक से आगे)

पाठक—अच्छा, रामकृष्णदेव साक्षात् ईश्वर हैं ? ईश्वर-दर्शन का फल क्या है ?

भक्त—परमहंसदेव के परम विश्वासी भक्त, तुम लोगों के गिरीशबाबू, जिनके समान कवि और नाट्यकार आजकल और देखने में नहीं आते, ने एक पुस्तक लिखी है, 'कृष्ण-दर्शन का फल है कृष्ण-दर्शन'। मेरी भी यही धारणा है।

पाठक—यह तो बड़ी आशा-भरोसा दिलानेवाली बात है। क्या हम लोग फिर से भगवान् को रामकृष्ण के रूप में देख पाएँगे ?

भक्त—अवश्य पाओगे। देखने के लिए व्याकुलता होने से ही देख पाओगे। उनके विग्रहरूप को भी देख सकोगे। उसके अतिरिक्त उनके और भी रूप हैं, उन्हें भी देख पाओगे। वे रूप के सागर हैं, उनके अनेक रूप हैं।

पाठक—हम लोगों ने रामकृष्णदेव की महासमाधि के बारे में सुना है। जिस दिन उनकी अस्थियाँ कलश में रखकर समाधि देने हेतु रामबाबू के काँकुड़गाछी के

बगीचे में ले जायी गयी थीं, उस दिन हम लोग भी वहीं थे। अब वह शरीर तो नष्ट हो चुका है, फिर उसे कैसे देख पाएँगे ?

भक्त––भाई, तुम रामकृष्णदेव को मनुष्य समझकर बातें कर रहे हो। मैंने तुमसे बार-बार कहा है कि वे ईश्वर हैं। रामकृष्ण-रूप उनके विग्रह का रूप है। उनका शरीर पंचभौतिक होने पर भी पंचभौतिक नहीं है। रामकृष्ण-देव का शरीर चिन्मय शरीर है। उनका शरीर चैतन्य से घनीभूत है। उनके शरीर के अणु-परमाणु चैतन्यमय हैं, यह हमने अपनी आँखों से देखा है। उनकी नरलीला की समाप्ति अवश्य हुई है, पर देह की समाप्ति नहीं हुई है। भगवान् के विलास की देह कभी नष्ट होनेवाली नहीं। भगवान् भक्तों की इच्छा पूर्ण करनेवाले कल्पतरु हैं, भक्तों की इच्छा पूर्ण करने के लिए विग्रहरूप धारण करते हैं, और वे वह विग्रहरूप कभी नष्ट नहीं करते, न ही उसे नष्ट करने का अधिकार उन्हें है। भगवान् का विग्रहरूप भगवान् का नहीं, भक्तों का है।

तुम्हारी शंकाओं के नाश के लिए परमहंसदेव के एक भक्त की चर्चा करता हूँ, सुनो––भक्त का नाम है श्री दुर्गाचरण नाग। वे ठाकुर की लीला-समाप्ति के बाद बड़े अधीर हो उठे थे। खाना-पीना सब त्याग दिया था। उनके उपवास के तीन-चार दिन बाद नरेन्द्रजी को खबर लगी। नरेन्द्रजी तो बड़े कोमलहृदय हैं, दुर्गाचरण के घर जाकर देखा तो वे मृतप्राय पड़े हुए थे। नरेन्द्रजी ने उन्हें खिलाने की बड़ी कोशिश की, पर सफल नहीं हुए। तब नरेन्द्रजी ने कहा कि मुझे कुछ खाने को दो। दुर्गाचरण ने दुकान से एक दोने में नाश्ता ला दिया। अब नरेन्द्रजी

जो कचौड़ी या मिठाई जरा चखकर उनके हाथ में देते, वह दुर्गाचरण खा लेते। नरेन्द्रजी का पेट भरा था, वे और कितना खाते! उन्होंने बाकी का नाश्ता दुर्गाचरण के हाथों में खाने के लिए धर दिया। और दुर्गाचरण ने दोने का वह नाश्ता 'हाय रे मैं हतभागा' कहते-कहते तेजी से जाकर गंगा के पानी में फेंक दिया। दूसरे दिन पड़ोसियों ने बहुत जिद करके, घर-पकड़कर उनसे चावल पकवाया। भात जब पकने को आया, तो दुर्गाचरण ने एक लकड़ी ले भात की हण्डी को फोड़ दिया और यह कहकर रोने लगे, "हाय रे, मेरे ऐसे ठाकुर चले गये और मैं भात खाऊं!" ऐसा ना-छोड़-बन्दा देखकर ठाकुर ने उन्हें दर्शन दिया। उसके बाद उन्होंने भात पकाकर खाया।

पाठक—अहा! ठाकुर की चर्चा जैसी मधुर है, उनके भक्तों की बातें भी वैसी ही मधुर हैं। महाशय, रामकृष्ण-देव के भक्तों के सम्बन्ध में और कुछ बताइये न।

भक्त—तुम्हारी जिज्ञासा सुनकर मुझे भी बड़ा आनन्द हुआ। तुम्हारे ऊपर रामकृष्णदेव की ऐसी कृपा है कि तुमसे उनकी लीला की चर्चा करते-करते मेरे हृदय में भी फुहारा छूट रहा है। जो मैं नहीं जानता था, ठाकुर उसे भी जना दे रहे हैं। तुम्हारे-जैसे लीलातत्त्व के पिपासु का संग पाकर मैं भी धन्य हो गया। रामकृष्णदेव के भक्तों की बातें अत्यन्त मधुर हैं, और उनको साथ लेकर ठाकुर ने जीव-शिक्षा के लिए जो सारी लीलाएँ कीं, वे तो और भी मधुर हैं। उन्हें सुनकर पत्थर पसीज जाते हैं, मृत वृक्ष हरे-भरे हो उठते हैं, बद्ध से बद्ध जीवों को भी चैतन्य लाभ होता है, भक्ति होती है तथा उनको भवसागर पार होने

का सहारा मिलता है । 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' और उनसे सम्बन्धित विभिन्न ग्रन्थों में इसकी चर्चा है । उन समस्त ग्रन्थों को पढ़ने से सारी बातें जान सकोगे ।

पाठक——अच्छा महाशय, तब आप यहाँ की बात ही कहिए । आपने जो कहा कि रामकृष्णदेव के रामकृष्ण-रूप के अतिरिक्त और भी रूप हैं, वह कैसी बात है ? वे भला किस तरह रूपों के सागर हुए ?

भक्त——रामकृष्ण-रूप हम लोगों का प्रिय रूप है । यही उनका विग्रहरूप है । फिर उनका एक विराट् रूप है । उनका निराकार भाव भी है । फिर उन्होंने जैसा कहा है, साकार-निराकार के अतिरिक्त भगवान् की एक और भी अवस्था है । भक्तगण उनके विग्रहरूप को छोड़ दूसरा रूप नहीं देखना चाहते, पर वे थोड़ा-बहुत दिखाये बिना मानते नहीं ।

पाठक——रामकृष्ण-रूप विग्रहरूप है, यह बात तो समझ में आयी और हमने उसे ही देखा है, पर यह विराट् रूप कैसा है ?

भक्त——इस जीव-जगत् को लेकर जो रूप है, वही राम-कृष्णदेव का विराट् रूप है । वे ही विग्रहरूपधारी जगद्-गुरु रामकृष्णदेव विराट् के रूप में अनेक हुए हैं । स्थावर-जंगम, वृक्ष-लता, पर्वत-नदी, वायु-अग्नि और जो कुछ भी प्राणी देखते या सुनते हो, सब वे ही हुए हैं। वे सबके भीतर और बाहर विद्यमान हैं । उनको छोड़ और कुछ भी नहीं है । जो कुछ है, सो वे ही हैं ।

पाठक——अद्भुत बात है । आप शास्त्रों की बात कह रहे हैं अथवा ईश्वर के स्थान पर रामकृष्ण-नाम को बिठाकर चाहे जैसे उनकी महिमा का बखान कर रहे हैं ? अथवा

आपने जो देखा है, वही बोल रहे हैं ?

भक्त—रामकृष्णदेव की महिमा अपार है—रामकृष्णदेव ईश्वर हैं, वे सर्वेश्वर हैं, राजराजेश्वर हैं। तुम सोचते होगे कि ये शास्त्रों की बातें हैं। पर शास्त्र किसे कहते हैं, मैं उसका नाम-धाम भी नहीं जानता। यहाँ तक कि रामायण, महाभारत के बारे में जिसके सम्बन्ध में दुकानदार-पंसारी भी जानते और पढ़ते हैं, मेरी इतनी उमर हुई फिर भी न कभी मैंने जाना और न कभी पढ़ा। मेरी उमर जब तीस साल की थी, तब मैंने रामकृष्णदेव के दर्शन किये थे। तब तक मुझे मालूम नहीं था कि कौरव-पाण्डव की बात रामायण में आती है या महाभारत में। एक दिन रामकृष्णदेव ने मुझसे कहा, "क्यों जी, क्या तुम ब्राह्म हो?" मैं उस बात का कोई उत्तर नहीं दे पाया; क्योंकि तब मैं जानता नहीं था कि ब्राह्म किसे कहते हैं, शाक्त किसे कहते हैं, शैव किसे कहते हैं या भगवान् किसे कहते हैं। यह सब कुछ भी मुझे नहीं मालूम था। वे हैं या नहीं—यह भी नहीं मालूम, और न कभी उस विषय में सोचा ही। पर परमहंसदेव के दर्शन होने से एक वर्ष पूर्व गँवई-गाँव के एक गुरु ने कान में कृष्ण-मन्त्र दिया था। जब उन्होंने मन्त्र दिया, तो मैंने उनसे कहा, "मैंने तो बार-बार मन्त्र का उच्चारण किया, पर कृष्ण को तो नहीं देख पा रहा हूँ ?" वे बोले—"वह क्या तुम कर सकोगे ? उसके लिए पुरश्चरण करना होगा, और भी बहुत कुछ करना होगा। तुम गंगा के किनारे रहो और स्नान के बाद केवल बारह बार जप करो।" बात सुनकर मुझे न मालूम क्या हो गया। उसी दिन से मैं कैसे कृष्ण को देखूँ, कैसे कृष्ण के साथ खेलूँ, कैसे कृष्ण के साथ बैठकर गुड़-रोटी खाऊँ, इसके

लिए प्राण व्याकुल हो उठे। कोई ऐसा सोचकर नहीं कि कृष्ण भगवान् हैं, यह सोचकर भी नहीं कि कृष्ण पार-खिवैया हैं, पर यह सोचकर कि कृष्ण कृष्ण हैं; यह सोच-कर कि कृष्ण दिखने में सुन्दर हैं; यह सोचकर कि उनके हाथ से बंसी छीनकर उन्हें रुलाऊँगा; यह सोचकर कि उनकी नवनीत-सदृश देह देखूँगा; यह सोचकर कि उनको गोद में लेकर बिचरूँगा; यह सोचकर कि फूलों से उनको सजाऊँगा; यह सोचकर कि गुड़-रोटी मेरी प्यारी वस्तु है, इसलिए वह लेकर उनके साथ मिलकर खाऊँगा। और भी बहुत-सी बातें हैं, तुम्हें कितना बताऊँ। तब मैं मन में अपने को ग्वाला समझता। यदि कोई मुझसे कहता कि मैं वृन्दावन से आया हूँ, ब्रजवासी हूँ, तो मैं तुरन्त उससे पूछता——कन्हैया कैसा है? कभी-कभी मैं ब्रजवासी-जैसा अपने मन ही मन में हिन्दी और बँगला मिलाकर बातचीत करता। तब कन्हैया के गीत रचता और ब्रजभाषा में भी गीत बनाता। अब तो मैं रामकृष्णदेव के पास आ पड़ा हूँ। रामकृष्णदेव के पास आने से यह सनक और बढ़ चली। तीन दिनों तक रामकृष्णदेव का दर्शन करके ही मैं अच्छी तरह से समझ गया कि यदि कोई मुझे कृष्ण दिखा सकते हैं, तो ये ही दिखा सकते हैं, और दूसरा कोई नहीं दिखा सकता। उस समय मैं जरा भी यह नहीं जानता था कि जो कृष्ण हैं, वही रामकृष्णदेव हैं। और कृष्ण के सम्बन्ध में मेरा ज्ञान कैसा था, जानते हो? मुझे मालूम नहीं था कि कृष्ण मधुररस के रसिक हैं; मालूम नहीं था कि कृष्ण पाण्डवों के रथ के सारथी थे; मालूम नहीं था कि कृष्ण ने कंस का वध किया था; मालूम नहीं था कि कृष्ण प्रभास-यज्ञ के कर्ता थे; मालूम नहीं था कि कृष्ण ने द्वारका-लीला की

थी। केवल यही मालूम था कि कृष्ण यशोदा का नीलमणि है, कि कृष्ण ग्वालबालों का सखा है, जो बाँसुरी बजाता है, माखन चुराता है और गायें चराता है। गोकुल के सभी उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं, राधा का तो वह और भी प्यारा है, वह बड़ा सुन्दर है—यह सब मैं जानता था। सुनो, मैं एक गीत सुनाता हूँ, उससे ही भाव को समझ सकोगे—

जाये वृन्दावन का चाँद जाये गोष्ठविहारी ।
जाये प्यारा मोहन, जाये बनवारी ।।
अलकावलि से शोभित भाल, गले में शोभा दे वनमाल,
मानो खेले बिजली, हों गोपीगण चित्तहारी ।
सोहे सिर पर मोर पंख, डोले धीरे पवन संग,
झपकाती न पलकें देख वह छबि गोपनारी ।।
बजती रुनझुन पैरों की पैंजन, हँसते नाचते ग्वालबाल संग,
तारों के बीच शशि किरण जैसे झलके री ।
आगे आगे चलती गायें पीछे बंसी कान्हा बजाये,
कब हमें मिले कन्हैया, मोहन मुरलीधारी ।।

अरे ! मैं अपने शास्त्रज्ञान की बात कहते-कहते यह कहाँ आ पड़ा !

पाठक—यह तो बड़े मजे की बात है—और बोलिए, मुझे तो इसमें रामकृष्णदेव की ज्वलन्त महिमा दीख पड़ती है।

भक्त—मैंने परमहंसदेव से एक दिन भी कोई बात नहीं की और कुछ पूछा भी नहीं। पर मैं यह अवश्य जानता था कि वे जिसकी छाती पर हाथ रख दें, वह बेहोश हो जाता है और उस अवस्था में कृष्ण को देख पाता है। मैं उसी आशा से उनके पास जाने लगा। पर एकमात्र वही आशा हो ऐसी बात भी नहीं थी। उनको देखने से मैं जाने कैसा-कैसा

हो जाता, इसीलिए मैं उनके पास जाता और मन ही मन सोचता कि कब वे कृपा करके अपना हाथ मेरी छाती पर रखेंगे। कितने ही दिन बीत गये, पर उन्होंने मेरी छाती पर हाथ नहीं रखा। मैं आशा लेकर जाता और निराश हो रोते-रोते लौट आता। मैंने जीवन में केवल दो ही बातें उनसे कही थीं। एक दिन उन्हें एकान्त में पाकर कहा था——ठाकुर, मैं बड़ा अन्धा हूँ। इस पर उन्होंने उत्तर दिया——ईश्वर हैं। और एक दिन उनसे कहा था——ठाकुर, आपने मेरी छुई हुई कुल्फी नहीं खायी, मैं बड़ा अपराधी हूँ। इस पर वे मुसकराते हुए बोले——यदि तुम दोपहर को कुल्फी लाते, तो मैं खाता। रात को ठण्डी चीज खाने से बीमारी हो जायगी, इसलिए नहीं खायी। मेरे साथ ठाकुर जैसा व्यवहार करते थे, वैसा यदि किसी दूसरे के साथ होता, तो वह मरना पसन्द करता, पर उनके पास न जाता। कितने लोग उनके पैरों पर हाथ फेरते, पर जब मैं हाथ बढ़ाता तो वे 'हो चुका, हो चुका' कहकर पैरों को समेट लेते। कभी-कभी चरणधूलि लेने के लिए जाने पर वे पीछे हट जाते और कहते——'हो चुका, हो चुका'। वे जो इतने तत्वों की बातें करते, मेरे पल्ले कुछ भी न पड़ता। मै चुपचाप एक किनारे बैठा रहता और केवल उनकी ओर निहारता रहता। अपने पिता से मुझे जैसा डर लगता, ठाकुर से वैसा ही डर लगता। अपने पिता के चेहरे का मेल मैं ठाकुर के चेहरे में देख पाता था और अभी भी पाता हूँ। तुमसे कितना कहूँ, बहुतसी बातें हैं। रामकृष्णदेव ही मेरे शास्त्र हैं और रामकृष्णदेव ही मेरे ज्ञान। मेरे शास्त्र देखने का अर्थ है——रामकृष्णदेव को देखना। मैं जो कुछ बोल रहा हूँ, वे

जैसा दिखाते हैं वही बोल रहा हूँ। मैंने रामकृष्णदेव को किसी के स्थान पर नहीं बिठाया है, मैंने रामकृष्णदेव को रामकृष्णदेव के स्थान पर ही बिठाया है। मैं जो देखता हूँ, वही बोलता हूँ।

पाठक—आप रामकृष्णदेव को सबके भीतर देखते हैं—अद्भुत बात है! यदि वे ही प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक जीव हुए हैं, तो फिर उस प्रत्येक वस्तु या जीव के भीतर रामकृष्ण-देव किस प्रकार हैं—आंशिक रूप में अथवा पूर्णरूप में ?

भक्त—बड़े अक्षर पढ़ना सीखे बिना जिस प्रकार छोटे अक्षरों को नहीं पढ़ा जा सकता, उसी प्रकार पहले विग्रह-रूप को समझे बिना विराट् रूप को नहीं समझा जा सकता। मैं जिस प्रकार देखता हूँ, तुम्हें बताता हूँ, सुनो—

यदि अगणित प्रकार के छोटे-बड़े पात्र समुद्र के जल में डुबाकर रखे जायँ, तो समुद्र का जल जिस प्रकार प्रत्येक पात्र के भीतर रहता है, मैं रामकृष्णदेव को उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के भीतर देखता हूँ। इससे समझ लो कि वे पूर्ण हैं या अंश। परन्तु ये जो छोटे-बड़े पात्र देखते हो, किसी में कम जल समाता है, किसी में अधिक, यह तो केवल शक्ति का तारतम्य मात्र है।

पाठक—यदि प्रत्येक बर्तन में अर्थात् जीव में वही समुद्र का जल है, तो फिर जीवों में अच्छे-बुरे, सत्-असत् आदि नाना भेद क्यों हैं ?

भक्त—वह है गुणों के कारण। रामकृष्णदेव का उपदेश है—सब जल ही नारायण है। परन्तु यह जल विभिन्न प्रकार का होता है। किसी जल से केवल हाथ-पैर धोने का काम होता है, कोई जल नहाने के काम आता है, कोई जल ऐसा पवित्र होता है कि उसके बिन्दु मात्र पान

से अथवा स्पर्श से जन्म-जन्मान्तर के पाप नष्ट हो जाते हैं, फिर ऐसा भी जल होता है जिसका स्पर्श नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार राम घट-घट में हैं; कहीं साधु-राम, कहीं लम्पट-राम, तो कहीं चोर-राम। किसी राम से प्रेम करना होता है, तो किसी राम से दूर रहना होता है।

रामकृष्णदेव की दूसरी उपमा है—वही श्यामा हाथ में खड्ग धारण कर कहीं मन्दिर में विराजमान है, कहीं घूँघट काढ़े बहू बनी कोने में बैठी हुई है, तो कहीं हाथ में हुक्का लिये बरामदे में बैठी हुई है।

'इच्छामयी अपनी इच्छानुसार सब घटों में विराज रही है।'

जब तक रामकृष्णदेव की कृपा नहीं होती, तब तक शक्ति का यह खेल, यह कुछ भी समझ में नहीं आता।

पाठक—भगवान् जब सब कुछ हुए हैं और वे चैतन्य स्वरूप हैं, तब पहाड़-पत्थर आदि जड़ पदार्थों में चैतन्य-की क्रीड़ा कहाँ हुई? जीव का शरीर जड़ अवश्य है, पर क्रिया के रूप में उसमें चैतन्य की क्रीड़ा देखने में आती है।

भक्त—दूध को दही, खीर, मक्खन, घी आदि चाहे जिस रूप में परिणत क्यों न करो, जैसे सबके भीतर वही दूध है अथवा जैसे प्रत्येक वस्तु दूध की ही विभिन्न अवस्था है, उसी प्रकार एक ही मूल चैतन्यस्वरूप भगवान् से जो कुछ प्रकट हुआ है, उस सबके भीतर वे ही हैं, अथवा कह लें कि प्रत्येक वस्तु उसी चैतन्य की भिन्न-भिन्न अवस्था मात्र है। वे ही आधार हैं, फिर वे ही आधेय। वे ही स्थूलावस्था में शरीर के उपादान बनकर देह हुए हैं और सूक्ष्मा-वस्था में देही अथवा आत्मा हुए हैं। एक ओर जैसे सृष्टि

में चैतन्य की अत्यन्त सूक्ष्मावस्था है महाकाश, महाकाश का स्थूल है आकाश, आकाश का स्थूल है तेज, तेज का स्थूल है वायु, वायु का स्थूल है जल और जल का स्थूल है पृथ्वी, उसी प्रकार जीव के शरीर के सम्बन्ध में परमात्मा है सूक्ष्मावस्था, उसका स्थूल स्वरूप है जीवात्मा, जीवात्मा का स्थूल स्वरूप है—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और उसका स्थूल स्वरूप है पंचभौतिक देह। माया का खेल अद्भुत है ।

पाठक—अभी ही तो आपने कहा भगवान् का खेल, और अब कहते हैं माया का खेल ? सुना है माया मिथ्या है, अनित्य और इन्द्रजाल मात्र है ।

भक्त—मन आदि से परे अत्यन्त सूक्ष्मतम चैतन्य-स्वरूप भगवान् जिस शक्ति के द्वारा इस प्रकार स्थूल होकर जीव-जगत् के रूप में परिणत हुए हैं, उसी शक्ति का नाम है माया। भगवान् जैसे नित्य और सत्य हैं, उनकी माया भी वैसे ही नित्य और सत्य है । नित्य और सत्य से जिसका जन्म होगा, वह क्या कभी अनित्य और असत्य हो सकता है ? यह मायाशक्ति ही लीलाशक्ति है । इसी शक्ति के बल पर वे लीला करते हैं । मायाशक्ति ईश्वर के अधीन होने पर भी, उसकी महिमा ईश्वर से बढ़कर है । यदि मायाशक्ति की क्रीड़ा न हो तो ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी के लिए भी ईश्वरीय सत्ता की उपलब्धि का कोई उपाय नहीं रहेगा । लीलाशक्ति की क्रीड़ा के अभाव में सृष्टि ही नहीं रहेगी, अर्थात् यह जीव-जगत् ही नहीं रहेगा, और जीव अगर न हो, तो ईश्वर होकर भी नहीं है । जैसे जन्मान्ध के लिए पूर्णिमा का प्रकाश होकर भी नहीं है, वैसे ही जीव की सत्ता न होने पर ईश्वर

की सत्ता होकर भी नहीं है। मायाशक्ति सृजन करके जीव की जननी होकर पहले जीव को अपना स्वरूप दिखाती है फिर ईश्वर का दर्शन करा देती है। जिस प्रकार दर्पण के माध्यम से अपना प्रतिबिम्ब दिखता है, उसी प्रकार जीव माया से उत्पन्न होकर माया के ही माध्यम से ईश्वर का दर्शनलाभ करता है। माया यदि मार्ग न छोड़ दे, तो जीव को ईश्वर-दर्शन नहीं हो सकता।

मायाशक्ति इच्छामयी है, लीलामयी है। एक होकर भी दो रूपों में क्रीड़ा करती है--एक है विद्याशक्ति और दूसरी, अविद्याशक्ति। एक शक्ति में ये दो प्रकार के भाव कैसे हैं जानते हो ? रामकृष्णदेव की इस सम्बन्ध में एक उपमा है--बिल्ली के दाँत तो वही हैं, उसी दाँत से वह अपने बच्चे को पकड़कर सुरक्षित स्थान पर ले जाती है, तब उसके दाँत बच्चे के गले में जरा भी नहीं चुभते, पर जब उसी दाँत से चूहे को पकड़ती है, तब चूहे की दुर्दशा की कोई सीमा नहीं होती। उसी प्रकार जब माया विद्या-शक्ति के माध्यम से जीव को पकड़ती है, तो जीव को ईश्वर के पथ पर ले जाती है और जब अविद्याशक्ति के द्वारा पकड़ती है, तब जीव को एकदम मोहित कर, हाथ-पैर में रस्सी बाँधकर संसार में फेंक देती है।

तो, वही एक रामकृष्णदेव लीलाशक्ति की सहायता से किस प्रकार जीव-जगत् होकर विराट् स्वरूप हुए हैं, इसकी मैंने चर्चा की। अब उनकी जो निराकार अवस्था है, उसके सम्बन्ध में वे कहते हैं--वह कैसा है यह मुँह से नहीं कहा जा सकता। उस अवस्था में जीव-जगत् नहीं है, सृष्टि नहीं है, सबका लोप हो जाता है। उस अवस्था में जैसा तुमने सुना है कि माया मिथ्या है, इन्द्रजाल है, वह

बात सही है।

माया मिथ्या होते हुए भी सत्य है और सत्य होते हुए भी मिथ्या है, इस सम्बन्ध में परमहंसदेव ने सुन्दर समाधान दिया है। वे कहते थे--जब मैं जीव-जगत् को स्पष्ट रूप से देख पा रहा हूँ, तब उसे मिथ्या कैसे कहूँ? फिर शंकराचार्य के मत के अनुसार जीव-जगत् नहीं है। तो, समाधान की जो बात है, वह यह है कि यह भी ठीक और वह भी ठीक। ईश्वरीय रूपों का कोई अन्त नहीं है। भगवान् केवल यही हैं और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं हैं और न हो सकते हैं, ऐसा कहने से तो उन्हें सान्त बना देना होगा, सीमित कर देना होगा।

ठाकुर का समाधान यही है कि वे सब कुछ हो सकते हैं, उनके बारे में सब कुछ सम्भव है।

(क्रमशः)

○

जिस प्रकार समुद्र के भीतर छिपा हुआ चुम्बक का पहाड़ अपने ऊपर से किसी जहाज के गुजरते ही तुरन्त उसे खींच, उसके कल-पुर्जों को ढीला कर, पटियों को अलग-अलग कर पानी में डुबो देता है, उसी प्रकार ईश्वररूपी चुम्बक का आकर्षण होने पर वह मनुष्य के अहंकार और स्वार्थ से पूर्ण जीवन को क्षण भर में तोड़-फोड़कर ईश्वर के प्रेमसागर में डुबो देता है।

—श्रीरामकृष्ण

मानस-रोग : भूमिका (१/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी रायपुर के इस आश्रम में विगत चार वर्षों से विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'रामचरित-मानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर प्रवचनमाला प्रदान करते आ रहे हैं। उन्होंने इस विषय पर अपना पहला प्रवचन २२-१-१९८० को दिया था। प्रस्तुत लेख उसी का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। —स०)

सुनहु तात अब मानस रोगा।
जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना।
ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दादु कंडु इरषाई।
हरष बिषाद गरह बहुताई॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ।
दंभ कपट मद मान नेहरुआ॥
तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी।
त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी॥

जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका ।
कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ।।७/१२०/२८-३७
एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि ।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि ।।७/१२१ (क)
नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान ।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान ।। ७/१२१ (ख)

भगवान् श्री राघवेन्द्र की असीम अनुकम्पा और श्रद्धेय स्वामीजी महाराज के स्नेह से कई वर्षों से श्री विवेकानन्द जयन्ती के पावन प्रसंग में मुझे यहाँ आकर वाङ्मयी सेवा का कुछ अवसर प्राप्त होता है । वैसे तो भगवत्-चरित्र का गायन जहाँ भी किया जाय, उसमें समग्रता और पूर्णता है, लेकिन इस आश्रम के पवित्र प्रांगण में, एक महान सन्त की जयन्ती के सन्दर्भ में, एक सन्त के सान्निध्य में तथा आप-जैसे भक्त और अध्यात्मपिपासु श्रोताओं के समक्ष कुछ कहने का आनन्द कुछ विशेष होता है । इसलिए इस आयोजन में सम्मिलित होकर मैं स्वयं धन्यता का अनभव करता हूँ ।

आदरणीय स्वामीजी महाराज ने प्रसंग के सम्बन्ध में आपको सूचित किया ही है । यह प्रसंग 'श्रीरामचरित-मानस' के अत्यन्त गम्भीर प्रसंगों में से एक है तथा विगत कई वर्षों से 'मानस' के जिन सप्त प्रश्नों की चर्चा चलती रही है, उनमें यह सातवाँ और अन्तिम प्रश्न है । श्रीराम-कथा श्रवण करने के बाद गरुड़ धन्यता का अनुभव करते हैं । कथा के आचार्य श्री काकभुशुण्डिजी उनसे पूछते हुए कहते हैं कि गरुड़जी, मैंने अपनी क्षमता के अनु-सार आपको रामकथा सुनायी है, अब बताइए आप और क्या सुनना चाहेंगे । इस पर गरुड़जी ने सात प्रश्न उनके

सामने रखे और उनका उत्तर सुनाने की प्रार्थना की। उनके इन प्रश्नों का काकभुशुण्डिजी ने जो उत्तर दिया है, वह प्रसंग 'मानस' में 'सप्त प्रश्न' के नाम से जाना जाता है। विगत कुछ वर्षों में हम यथासाध्य प्रथम छः प्रश्नों की चर्चा करते रहे हैं, पर सातवाँ प्रश्न इन सबमें सर्वाधिक गम्भीर है। साथ ही, यदि हम रामकथा को अपने जीवन से जोड़ना चाहें, तो यह सातवाँ प्रश्न उपादेय भी बहुत है। मुझे विश्वास है कि आप इस प्रसंग को मनोभूमि में स्थित होकर ही सुनेंगे, क्योंकि इस प्रश्न में ही 'मानस' शब्द की सार्थकता छिपी हुई है।

भगवान् श्री राम के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य में कई ग्रन्थ लिखे गये हैं, पर गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा रचित इस रामकथा की उन सब ग्रन्थों की तुलना में अपनी एक विशिष्टता है। वैसे तो प्रचलित रूप से इसे भी रामायण कहकर ही पुकारा जाता है, पर भगवान् शंकर के द्वारा इसका जो नामकरण किया गया, उसका स्मरण करते हुए गोस्वामीजी इसका नाम 'श्रीरामचरितमानस' रखते हैं। 'रामचरित' शब्द का अर्थ है वह, जिसमें भगवान् राम का चरित्र हो। पर यहाँ पर 'रामचरित' के साथ जुड़ा हुआ जो 'मानस' शब्द है तथा 'मानस' का उपसंहार करते हुए 'सप्त प्रश्न' में 'मानस-रोग' को जो अन्तिम स्थान दिया गया है, उसके निहित तात्पर्य को यदि हम समझ लें, तो इस गम्भीर प्रसंग को समझने में कुछ सरलता हो जायगी। राम-चरित्र के सन्दर्भ में अन्य जो ग्रन्थ हैं, उनकी तुलना हम एक उच्च कोटि के कलाकार के द्वारा निर्मित चित्र से कर सकते हैं। जब एक चित्रकार अपनी तूलिका से कोई चित्र अंकित करता है, तो जिस व्यक्ति का वह

चित्र है उसका साक्षात्कार तो हमें होता ही है, साथ ही उस चित्रकार के प्रति भी हमारे अन्तःकरण में आदर की भावना जागृत होती है——यह सोचकर कि इसने कैसा कलात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। तो, श्रीराम के सन्दर्भ में जो ग्रन्थ मुख्यतया ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखे गये हैं, वे मानो महान् शब्द-शिल्पियों के द्वारा निर्मित चित्र हैं, उनका दर्शन करके भी हमारे अन्तःकरण में धन्यता का अनुभव होता है; लेकिन 'श्रीरामचरित' के साथ जुड़ा हुआ यह जो 'मानस' शब्द है, वह भगवान् राम के चरित्र के साथ एक विशेष तत्त्व और जोड़ देता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि इस ग्रन्थ में भगवान् राम का चित्र नहीं है। इसमें भगवान् राम का भी चित्र है और उनके भक्तों का भी, फिर उनके विरोधियों का भी। और चित्र ऐसा सांगोपांग है कि यदि आपके पास दृष्टि है, तो आपको उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखा भी दिखायी दे सकती है। पर 'रामचरितमानस' के अन्तराल को समझने के लिए, उसकी विशेषता का आनन्द लेने के लिए हम उसकी तुलना चित्र से न कर एक दर्पण से, शीशे से करना चाहेंगे।

शीशे की विशेषता क्या है ? वैसे देखें तो दर्पण में चित्र की कलात्मकता नहीं होती, क्योंकि चित्र में तो एक एक रेखे को अभिव्यक्ति देनी पड़ती है और उसमें कलाकार की कला का साक्षात्कार होता है, पर दर्पण में इतनी उत्कृष्ट कला के प्रदर्शन का कोई प्रयोजन नहीं होता। फिर भी दर्पण की उपयोगिता और उसकी प्रियता चित्र की तुलना में कम नहीं है। अब चित्र तो अलग-अलग व्यक्ति के घर में अलग-अलग होगा, पर शायद ही कोई ऐसा घर हो, जहाँ दर्पण न हो। चित्र और दर्पण में एक मौलिक

अन्तर है । चित्र हमारे समक्ष भूतकाल को, पुरातन को प्रतिबिम्बित करता है । जब हम चित्र के सामने खड़े होते हैं, तब जिस काल का वह चित्र होता है, वह हमारे सामने साकार हो उठता है । पर दर्पण की अपनी एक विशेषता है, एक अनोखापन है । वह यह कि दर्पण भूतकाल को प्रतिबिम्बित नहीं करता, अपितु वर्तमान को हमारे सामने ला देता है । जब हम दर्पण के सामने खडे होते हैं, तो उसमें कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बल्कि हम स्वय दिखायी देते हैं । 'रामचरितमानस' के माध्यम से हमारे समक्ष यही संकेत दिया गया है । उसकी समाप्ति रामकथा से, राम के चरित्र से न हो मानस-रोगों से जो की गयी है, इसका मुख्य तात्पर्य यही है कि हम इस कथा को केवल भूतकाल के एक महान् चित्र के रूप में न देखें अपितु उसके रूप में हम अपने जीवन में एक दर्पण, एक शीशा पा लें एवं उस दर्पण के माध्यम से हम अपने आपको सही-सही अर्थों में देख सकें और पहचान सकें । हमें ऐसा प्रतीत न हो कि हम केवल त्रेतायुग के व्यक्तियों का चरित्र पढ़ रहे हैं, बल्कि हमें लगे कि उसमें हमारा, आपका, प्रत्येक व्यक्ति का चित्र है और उसके समक्ष खडे होकर हम अपने आपको देख पाने में समर्थ हैं । यदि हम 'राम-चरितमानस' की मूल परम्परा पर विचार करके देखें, तो वहाँ हमें यही बात दिखायी देगी । गोस्वामीजी जब रामकथा लिखने के लिए प्रस्तुत होते हैं, तो वे गुरुदेव से प्रार्थना करते हैं कि आप मेरे नेत्रों के दोषों को दूर कर दीजिए । मनुष्य के पास नेत्र तो होते हैं, पर यदि वे रोग-ग्रस्त हो जायं, तो वस्तु अपने यथार्थ रूप में नहीं दिखायी देती और कभी-कभी तो उसका दिखना ही बन्द हो

जाना है। फिर औषध के द्वारा यदि रोग को दूर कर दिया जाय, तो व्यक्ति की दृष्टिशक्ति लौट आती है। हममें से बहुत से लोग दूर की वस्तु को नहीं देख पाते। इसीलिए गोस्वामीजी मानो गुरुदेव के चरणों को पकड़कर कहते हैं कि महाराज, मेरी दृष्टि तो इतनी कमजोर है कि वर्तमान में हुए चरित्रों को ही जब वह नहीं देख पाती, तब त्रेतायुग में हुए भगवान् श्रीराम के चरित्र को वह भला कैसे देखे ? इसलिए आप कृपा करके अपने चरणों की धूल दीजिए। वह मेरी आँखों के लिए अंजन का काम करेगी और मेरी दृष्टि के दोषों को दूर कर देगी। वे लिखते हैं——

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥
तेहिं करि बिमल बिबेक बिलोचन।
बरनउँ राम चरित भव मोचन॥ १/१/१-२

——'श्रीगुरु महाराज के चरणों की रज कोमल और सुन्दर नयनामृत-अंजन है, जो नेत्रों के दोषों का नाश करनेवाला है। उस अंजन से विवेकरूपी नेत्रों को निर्मल करके मैं संसाररूपी बन्धन से छुड़ानेवाले श्रीरामचरित्र का वर्णन करता हूँ।' अभिप्राय यह कि गुरु जब कृपा करते हैं, तो वे शिष्य को निर्दोष दृष्टि प्रदान करते हैं। तभी तो गोस्वामीजी अनुभव करते हैं कि गुरु की चरणरजरूप औषध के द्वारा उनके नेत्रों की ज्योति उज्ज्वल हो गयी है, उनकी दृष्टि के दोष दूर हो गये हैं और उन्हें विवेक की दृष्टि प्राप्त हो गयी है तथा इस विवेक की दृष्टि के द्वारा वे अब त्रेतायुग में हुए भगवान् राम के चरित्र को वर्तमान के समान ही प्रत्यक्ष देख पा रहे हैं, जिसे लिखने में वे प्रवृत्त

हो रहे हैं ।

पर जब वे अयोध्याकाण्ड लिखना प्रारम्भ करते हैं, तो शुरू में ही फिर से गुरु की चरणरज चाहते हैं । गुरु मानो कहते हैं कि तुम तो स्वयं स्वीकार कर चुके हो कि तुम्हें प्रभु का चरित्र दिखायी दे रहा है, तब फिर से क्यों चरणरज चाहते हो ? उत्तर में गोस्वामीजी कहते हैं कि महाराज, आपकी चरणरज की कृपा से मुझे दृष्टि तो प्राप्त हो गयी, लेकिन एक वस्तु और पाना शेष है और उसे पाये बिना भगवान् राम के चरित्र को देखना एक अधूरी दृष्टि होगी, अतएव आप मुझ पर कृपा कीजिए । आप लोगों में से जो 'मानस' का पाठ करते होंगे, वे अयोध्याकाण्ड के इस पहले दोहे को पढ़ते होंगे । 'हनुमान चालीसा' के प्रारम्भ में भी यही दोहा है । गोस्वामीजी कहते हैं--

श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मन मुकुरु सुधारि ।
बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि ।।२/०

--'श्री गुरुजी के चरणकमलों की रज से अपने मनरूपी दर्पण को साफ करके मैं श्री रघुनाथजी के उस निर्मल यश का वर्णन करता हूँ, जो चारों फलों को देनेवाला है ।' उनका तात्पर्य यह है कि गुरुदेव, मुझे दृष्टि तो मिली थी, पर दर्पण नहीं मिला था । दृष्टि से केवल राम दिखायी देंगे, पर जब तक श्री राम के साथ हम अपने आपको न देख सकें, तब तक सही अर्थों में श्री राम को देखने की सार्थकता नहीं होगी । श्री राम के साथ अपने आपको भी देख पाने के लिए दर्पण चाहिए, गुरुदेव !

वैसे देखा जाय, तो हर व्यक्ति के पास दृष्टि होती है और दर्पण भी । पर यदि दृष्टि में कोई रोग हो, तो व्यक्ति दूर का नहीं देख पाता, और कभी-कभी तो निकट की वस्तु

भी नहीं देख पाता । उसी प्रकार यदि दर्पण न हो, तो व्यक्ति अपने आपको नहीं देख पाता और दर्पण होकर भी यदि मैला हो, तो भी व्यक्ति उसमें अपने को देखने में असमर्थ होता है। गोस्वामीजी इसके द्वारा एक गूढ़ संकेत प्रदान करते हैं। वे विवेक की तुलना दृष्टि से, आँख से करते हैं और मन की तुलना दर्पण से। 'रामचरितमानस' में जो 'मानस' शब्द है, उसका अर्थ आप जानते ही हैं। जो मन से सम्बद्ध हो, जुड़ा हुआ हो, वह है मानस। तो, गोस्वामीजी कहते हैं कि गुरुदेव, मेरा मनरूपी दर्पण मलिन हो गया है, इसलिए मैं उसमें अपने को नहीं देख पा रहा हूँ, अतएव उसे स्वच्छ करने के लिए अपने चरणों की धूल दे दीजिए। अब यह बड़ी विचित्र बात मालूम होती है कि धूल से दर्पण स्वच्छ होगा ! सामान्यत: धूल से तो दर्पण और भी मलिन होता है, पर गोस्वामीजी का अभिप्राय यह है कि गुरु की चरणधूलि में एक ऐसा चमत्कार है कि वह दर्पण की मलिनता को दूर कर देती है और उसे स्वच्छ बना देती है। वे गुरु की चरणरज इसलिए चाहते हैं कि उनकी दृष्टि परिष्कृत हो विवेकपूर्ण हो जाय तथा उनका मनरूपी दर्पण स्वच्छ हो उसमें वे श्री राम को तथा अपने आपको देख सकें। तभी भगवान् श्री राघवेन्द्र के चरित्र के वर्णन की सार्थकता होगी। यह गोस्वामीजी की शैली की विशेषता है। वे इसके माध्यम से एक विलक्षण संकेत प्रदान करते हैं। वह क्या ?

दशरथ ने श्री राम को पा लिया है। इसका अभिप्राय यह है कि वे ईश्वर को पा चुके हैं। अब जो ईश्वर को पा ले, उसके लिए क्या और कुछ पाना शेष रहता है ? साधारण दृष्टि तो यही कहती है कि ईश्वर को पा लेने

पर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता । लेकिन 'राम-चरितमानस' के कई पात्रों के सन्दर्भ में यह बात हमें पढ़ने और सुनने को मिलती है कि ईश्वर को पा लेने पर भी जीवन में कुछ पाना शेष रह जाता है । उस शेष रह जाने का क्या तात्पर्य है इसका संकेत हमें दशरथजी के चरित्र में भी प्राप्त होता है । वैसे हनुमान्जी के चरित्र में भी आपको इसका संकेत मिलेगा । हम पढ़ते हैं कि हनुमान्जी जब भगवान श्री राम को पहले प्राप्त करते हैं, तब वे अपने जीवन में कृतकृत्यता और पूर्णता का अनुभव नहीं करते । पर मैं इस सन्दर्भ में मुख्य रूप से दशरथजी को ही लेना चाहूँगा । गोस्वामीजी लिखते हैं––

दसरथ पुत्रजन्म सुनि काना ।
मानहुँ ब्रह्मानंद समाना ।।
परम प्रेम मन पुलक सरीरा ।
चाहत उठन करत मति धीरा ।।
जाकर नाम सुनत सुभ होई ।
मोरें गृह आवा प्रभु सोई ।।
परमानंद पूरि मन राजा ।
कहा बोलाइ बजावहु बाजा ।। १/१९२/३-६

––जिस समय महाराज श्री दशरथ ने पुत्र के जन्म का समाचार सुना, तो वे मानो ब्रह्मानन्द में समा गये । मन में अतिशय प्रेम भर गया, शरीर पुलकित हो गया । आनन्द में अधीर हुई बुद्धि को धीरज देकर और प्रेम में शिथिल हुए शरीर को सँभालकर वे उठना चाहते हैं । यह सोचकर राजा का मन परम आनन्द से पूर्ण हो गया कि जिनका नाम सुनने से ही कल्याण होता है, वही प्रभु मेरे घर आये हैं । उन्होंने बाजेवालों को बुलाकर कहा कि बाजा बजाओ ।

वे मानो वाद्य के माध्यम से दूसरों को भी निमंत्रित करते हैं कि आप लोग आएँ और हमारे इस आनन्द में भागीदार बनें। इसका तात्पर्य यह कि दशरथ को अनुभूति होती है कि उन्होंने ईश्वर को पा लिया और वे अपने अनुभूति के इस आनन्द को सबको बाँटना चाहते हैं। पर प्रश्न यह है कि क्या अपनी इस अनुभूति के बल पर उन्हें ऐसा लगा कि उनके लिए अब और कुछ करना शेष नहीं है ?

वैसे ईश्वर तो प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है, केवल उसकी प्राप्ति का ज्ञान उसे नहीं है। जब सारे शास्त्र और सन्त-महापुरुष यह कहते हैं कि ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान है, तो इसका यही अर्थ है कि ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है, केवल उसे उसके न प्राप्त होने का भ्रम बना हुआ है। हम सत्संग के, शास्त्रों के माध्यम से इस भ्रम को दूर करते हैं और ईश्वर की प्राप्ति को हृदय से अनुभव करते हैं। यह बात गोस्वामीजी ने कई प्रसंगों में सांकेतिक भाषा में लिखी है। उनमें एक प्रसंग लें लें। भगवान् श्री राम चित्रकूट की ओर जा चुके हैं। मार्ग में जो स्त्री-पुरुष हैं, वे उनका साक्षात्कार करते हैं और उन्हें अपने जीवन में धन्यता की अनुभूति होती है। पर कुछ दिनों बाद जब श्री भरत अयोध्या से चित्रकूट गये और लोगों ने उनके दर्शन किये, तो गोस्वामीजी से पूछा गया कि आपने तो क्रम ही उलटा कर दिया, पहले सन्त के दर्शन कराकर बाद में ईश्वर के दर्शन कराये होते, तो सार्थकता भी थी, पर पहले ईश्वर के दर्शन कराकर बाद में जो आप सन्त के दर्शन करा रहे हैं, उसकी क्या सार्थकता है ? श्री राम हैं ईश्वर और भरत हैं सन्त। प्रश्न यह है कि श्री राम का दर्शन कर लेने के बाद भरत के दर्शन से और क्या पाना

शेष है ? इसी का उत्तर गोस्वामीजी विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न प्रकार से देते हैं, पर उत्तर एक ही है । उसे दशरथजी के प्रसंग के माध्यम से देखने की चेष्टा करें ।

बालकाण्ड में महाराज श्री दशरथ केवल श्री राम को ही देखते रहे, पर अयोध्याकाण्ड में, जहाँ गोस्वामीजी ने गुरुदेव से दर्पण की स्वच्छता की माँग की, वे श्री राम के स्थान पर अपने को देखते हैं । गोस्वामीजी अयोध्याकाण्ड का प्रारम्भ ही यह बताते हुए करते हैं कि दशरथ के सौभाग्य की सब लोग प्रशसा कर रहे हैं, जो उन्होंने राम को पुत्र के रूप में प्राप्त किया है । चारों ओर एक ही ध्वनि गूँजती है कि--

तिभुवन तीनि काल जग माहीं ।
भूरिभाग दसरथ सम नाहीं ।। २/१/४

--तीनों भुवनों में दशरथजी के समान बड़भागी और कोई नहीं है । उनके समान कोई न तो आज तक हुआ, न अभी है और न भविष्य में होगा । ऐसे सौभाग्यशाली दशरथजी को श्री राम को पा लेने के बाद, उनको देख लेने के बाद और किसी बात की आवश्यकता है या नहीं ? है; और समूचे अयोध्याकाण्ड में, यही क्यों पूरे 'रामचरितमानस' में ही, इसी आवश्यकता का संकेत किया गया है । जब दशरथजी ने अपने सौभाग्य की इतनी सराहना सुनी, तब तो उन्हें फूल जाना चाहिए था, पर गोस्वामीजी लिखते हैं कि वे प्रशंसा से फूलते नहीं, अपितु--

रायँ सुभायँ मुकुरु कर लीन्हा ।
बदनु बिलोकि मुकुटु सम कीन्हा ।। २/१/६

--वे अचानक शीशा उठाकर उसमें अपना मुँह देखने लगते हैं । यह गोस्वामीजी की सांकेतिक भाषा है । इसे

कई लोग ठीक समझ नहीं पाते। कुछ साहित्यिक समालोचकों ने तो यह लिख दिया कि तुलसीदासजी तो एक बाबा-बैरागी थे, कभी राजाओं की सभा में गये नहीं, इसलिए उन्हें राजाओं की मर्यादा का, राजसभा के नियमों का कोई ज्ञान नहीं था, तभी तो वे ऐसी ऊटपटाँग बात लिख गये। अरे, क्या कोई राजा सिंहासन पर बैठकर शीशे में अपना मुख देखता है ? क्या किसी राजसभा में ऐसा दृश्य दिखायी दे सकता है ? ये समालोचक गोस्वामीजी के अभिप्राय को नहीं पकड़ पाये। वह अभिप्राय क्या है ? यदि हम यह समझ ले सकें कि अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में ही वे अपने गुरुजी से क्यों शीशा माँग रहे हैं, तो उनका वह अभिप्राय भी समझ में आ जायगा। महाराज श्री दशरथ श्री राम को देख लेने के बाद भी शीशे में अपने को देखना आवश्यक मानते हैं। शीशे में अपने को देखने का तात्पर्य है आत्मनिरीक्षण करना। श्री राम तो समग्र हैं, पूर्ण हैं, पर मात्र उनकी पूर्णता को देखकर हमारे जीवन में धन्यता नहीं आ सकती। वह तो तब आएगी, जब हम पूर्णता को देखकर अपने जीवन की अपूर्णता, कमी को देखने की प्रेरणा प्राप्त करेंगे और उस अपूर्णता को दूर करेंगे। हम यदि केवल पूर्णता को देखते रहें और उससे अपने जीवन की अपूर्णता को देखने की तथा देखकर उसे पूर्णता में परिवर्तित करने की प्रेरणा न प्राप्त करें, तो पूर्णता की हमारी प्रशंसा मात्र शब्दों का ही खेल होगा। जैसे एक भिखारी किसी धनी आदमी के धन की प्रशंसा करने लगे, तो उससे उसकी दरिद्रता दूर नहीं होगी, इसलिए उसकी उस प्रशंसा को सार्थक नहीं कहा जायगा। पर यदि उसके अन्तःकरण में धनी के धन को देख अपनी दरिद्रता को दूर करने की लालसा

उत्पन्न हो, तो उसका यह देखना और धनी की प्रशंसा करना सार्थक होगा। इसी प्रकार पूर्ण को देखने की सार्थकता तब है, जब व्यक्ति अपनी अपूर्णता को देखे और उसे दूर करने की चेष्टा करे। दशरथजी ने इसीलिए दर्पण देखा।

अब दर्पण बड़ी अनोखी वस्तु है। दर्पण से बढ़कर कोई वस्तु प्रिय नहीं और उससे बढ़कर झगड़ालू वस्तु भी कोई नहीं। जब व्यक्ति स्वयं दर्पण देखता है, तो बड़ा प्रसन्न होता है, लेकिन यदि कोई दूसरा कह दे कि शीशे में मुँह देख लो, तो झगड़ा हुए बिना नहीं रहेगा। इसमें संकेत यह है कि व्यक्ति अपनी कमी स्वयं देखना चाहता है, पर यदि कोई दूसरा हमारी कमी की ओर इंगित करता है, तो हमें चोट पहुँचती है और हम क्षुब्ध हो उस व्यक्ति के प्रति अपना रोष प्रकट करते हैं। तो, दर्पण देखने का सही अर्थ यह हुआ---अपनी आँखों से अपनी कमियों को पहचानना। जिन दशरथ ने श्री राम को, ईश्वर को पाया, वे जब दर्पण में अपने को देखते हैं, तो उन्हें स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमें कोई कमी है। उन्हें लगता है कि भले ही लोग कहते रहें कि दशरथ के समान भाग्यशाली और कोई नहीं है, पर जब तक मेरे जीवन में कमी है, अपूर्णता है, तब तक ईश्वर के दिये हुए सौभाग्य को पाकर भी मैं पूरी तरह से अपने जीवन में कृतकृत्यता का अनुभव नहीं कर सकता। गोस्वामीजी भी यही बात बड़े सुन्दर ढंग से सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में कहते हैं। आप सातों काण्डों में यह बात पाएँगे कि जब भी वे किसी भक्त को कोई बढ़िया वस्तु प्राप्त करते हुए देखते हैं, तो वे झट जाकर पीछे खड़े हो जाते हैं। जैसे, जब प्रसाद बँटता है, तो लोगों की भीड़ लग जाती है---यह सोचकर कि प्रसाद केवल एक ही व्यक्ति के लिए तो नहीं

होगा, वह सबको मिलेगा। इसी प्रकार गोस्वामीजी भी जब बढ़िया वस्तु बँटते हुए देखते हैं, तो पीछे जाकर जरूर खड़े हो जाते हैं। बालकाण्ड में उन्होंने देखा कि मनु श्री राम को देखने की प्रार्थना करते हुए कह रहे हैं—

देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन।। १/१४५/६

——प्रभो, ऐसी कृपा कीजिए, जिससे हम इन आँखों से आपको देख सकें। बस, तुलसीदासजी भी गुरुजी के पास खड़े हो गये और बोले—महाराज, मुझे भी दृष्टि दे दीजिए, जिससे मैं भी उन्हें देख सकूँ। जब अयोध्याकाण्ड में दशरथ-जी शीशा देखने लगे, तो गोस्वामीजी को लगा कि शीशा तो बड़े काम की वस्तु है और बस, वे गुरुजी से शीशा प्राप्त करने की याचना करने लगे, जिससे वे भी अपने को देख सकें। सुन्दरकाण्ड में निर्भरा भक्ति बँटने लगी। निर्भरा भक्ति का सरल अर्थ यह है कि जैसे एक छोटा बच्चा अपने कल्याण के लिए, अपने योग-क्षेम के लिए पूरी तरह से माँ पर निर्भर होता है, वैसे ही जब भक्त पूर्णरूपेण भगवान् के प्रति अपने को समर्पित करके उन पर निर्भर हो जाता है, तब वह अपने जीवन में समग्रता और धन्यता का अनुभव करता है। तो, गोस्वामीजी ने देखा कि हनुमान्जी को माँ ने निर्भरा भक्ति दी——

करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना।
निर्भर प्रेम मगन हनुमाना।। ५/१६/४

——तो वे भी तुरन्त भगवान् से कहने लगे कि प्रभु, मुझे भी दीजिए।

"क्या दूँ ?"

"भक्ति प्रयच्छ——भक्ति दीजिए।"

"भई, कौन सी भक्ति दूँ ?"

"महाराज, वही जो यहाँ बँट रही है और जिसे लेने के लिए हनुमान्जी बेचैन हैं--

'भक्ति प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे' (५/श्लोक २)

--बस, वही निर्भरा भक्ति मुझे भी दीजिए।"

"तो इससे तुम सन्तुष्ट हो जाओगे ?"

"नहीं, महाराज ! इसके साथ आप यह भी दीजिए कि--

'कामादिदोषरहितं कुरु मानस च' (५/श्लोक २)

--मेरे मन के काम आदि दोषों को दूर कर दीजिए।"

"सो क्यों ?" प्रभु बोले, "जब तुमने मुझ पर पूरी तरह से निर्भर रहने के लिए निर्भरा भक्ति माँग ही ली, तब फिर यह और क्यों कहते हो कि मेरे मन के दोषों को दूर कर दीजिए ? यदि मैं तुम्हारा दोषयुक्त मन स्वीकार कर लेता हूँ और तुम्हारे दोषों की ओर दृष्टि नहीं डालता, तो तुम्हें अपने मन के दोषों की इतनी चिन्ता क्यों है, जो इन दोषों को दूर करने की मुझसे प्रार्थना कर रहे हो ?"

"बात यह है, महाराज !" तुलसीदासजी बोले, "बालक के प्रति माँ के मन में बड़ी ममता होती है। कुरूप से कुरूप और गन्दे से गन्दा बालक भी अपनी माँ को प्यारा लगता है, पर दूसरों को तो वह प्यारा नहीं लगता। इसी प्रकार भले ही आपको अपना कुरूप बालक भी उतना ही प्रिय लगता है, जितना अपना सुन्दर बालक और भले ही आप दोषयुक्त व्यक्तियों को भी अपनाने में संकोच नहीं करते, फिर भी, महाराज, मुझे एक बात की बडी चिन्ता सताती है। मुझ-जैसे गन्दे व्यक्ति को अपनाने के कारण कहीं आपको कलंक न लगे, यही सोचकर मुझे कष्ट होता है।"

"मुझ पर कलंक क्यों लगने चला ?"

"बात यह है, महाराज, यदि बालक कुरूप हो, तब तो लोग प्रकृति को दोष दे देते हैं, पर यदि वह गन्दा हो, तो लोग बालक की निन्दा नहीं करते, उसकी माँ की निन्दा करते हैं। कहते हैं—कैसी फूहड़ है, जो अपने बालक को गन्दगी में लिपटाये रखे हुए है। इसी प्रकार, प्रभु, यदि आपको पा लेने के बाद भी मेरे मन में गन्दगी बनी रहेगी, तो लोग आप पर ही कलंक लगाएँगे और कहेंगे कि यह कैसा भगवान् है, जो अपने निकटस्थ लोगों का भी दोष दूर नहीं कर पाता ! सुन्दर, स्वच्छ बालक को देखकर किसी का भी मन उसे गोद में लेने को हो जाता है, पर यदि वह गन्दगी में लिपटा हुआ हो, तब तो उसका पिता भी एक बार यही चाहता है कि वह पहले स्वच्छ हो जाय, तब उसे गोद में लूँ। तो महाराज, भले ही आप अपने स्नेह, करुणा और वात्सल्य के कारण गन्दे मनवाले व्यक्ति को भी स्वीकार कर लें, पर लोग तो उसे दुरदुराएँगे ही। इसीलिए मैं आपसे याचना कर रहा हूँ कि मेरे मन की गन्दगी को दूर कर दीजिए।"

तो, गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है कि भगवान् की भक्ति का प्राप्त होना ही यथेष्ट नहीं है। यदि हमारे जीवन में दोष बने हुए हैं, विकारों का खेल बना हुआ है, तो भक्ति पा लेने में ही जीवन की समग्रता और सार्थकता नहीं है। 'रामचरितमानस' का दर्शन यही है। रामकथा के बाद भी मानस-रोगों की चर्चा करने का यही तात्पर्य है। जैसे, श्री भरत का प्रसंग ले लें। वे अयोध्या से चित्रकूट की यात्रा कर रहे हैं। इससे पूर्व मार्ग के नर-नारियों को भगवान् राम के दर्शन मिल चुके हैं। अपने दर्शन का फल बताते

हुए स्वयं प्रभु घोषणा करते हैं——

मम दरसन फल परम अनूपा ।
जीव पाव निज सहज सरूपा ।। ३/३५/९

——'मेरे दर्शन का परम अनुपम फल यह है कि जीव अपने सहज स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ।' यदि ऐसी बात है, तो श्री भरत के दर्शन से फिर कुछ पाना शेष नहीं रहा ? पर नहीं, ऐसी बात नहीं । गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री राम के दर्शन से एक वस्तु तो मिली, पर उस वस्तु के मिलने का बोध श्री भरत के दर्शन से मिला । जैसे किसी भूखे के सामने भोजन आ जाय, तो वहाँ पर भोजन-प्राप्ति की बड़ी सार्थकता है, पर एक समृद्ध और साधनसम्पन्न व्यक्ति के सामने, जिसे वैद्य ने बता दिया हो कि भोजन करने से तुम रोगग्रस्त हो सकते हो, यहाँ तक कि तुम्हारी मृत्यु भी हो सकती है, यदि विविध प्रकार के व्यंजन रख दिये जायँ, तो उसकी क्या सार्थकता है ? जब तक उस व्यक्ति में व्यंजन को पचाने की सामर्थ्य न आ जाय, तब तक उसके सामने भोजन परोसने का कोई मतलब नहीं । 'रामचरितमानस' में एक प्रसिद्ध पंक्ति आती है——

सरुज सरीर बादि बहु भोगा (७/१७७/५)

——रोगी शरीर के लिए नाना प्रकार के भोग व्यर्थ हैं । अतः पहले रोग को दूर करो, शरीर को स्वस्थ करो, तब कहीं भोग उस व्यक्ति के जीवन में कुछ अर्थ रख सकेंगे । इसी प्रकार नर-नारियों ने भगवान् राम के दर्शन तो किये हैं, पर उन्हें उस दर्शन का स्वाद नहीं मिला है । यह स्वाद उन्हें तब मिलता है, जब वे श्री भरत का दर्शन करते हैं । इसलिए भरत का दर्शन अधिक आवश्यक है——राम के दर्शन के बाद भी उनका दर्शन है । भगवान् राम के दर्शन का फल

बताते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

जड़ चेतन मग जीव घनेरे।
जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे।।
ते सब भए परम पद जोगू। २/२१६/१-२

——रास्ते में तो असंख्य जड़-चेतन जीव थे। उनमें से जिनको प्रभु श्री राम ने देखा अथवा जिन्होंने प्रभु श्री राम को देखा, वे सब परमपद के अधिकारी हो गये। इसका मतलब यह कि उन्हें परमपद का अधिकार ही मिला, पर परमपद नहीं मिला। उन्हें परमपद कब मिला ?—

भरत दरस मेटा भव रोगू।। २/२१६/२

——जब उन्होंने भरतजी के दर्शन किये। इस दर्शन से उनका भवरूपी रोग मिट गया और उन्होंने परमपद पा लिया।

तात्पर्य यह कि जब तक भवरूपी रोग मिटता नहीं, मन की दुर्बलताएँ, उसके दोष और विकार दूर होते नहीं, तब तक भगवान् श्री राम के दर्शन की समग्रता और सार्थकता नहीं हो पाती। श्री भरत का दर्शन मानसिक रोगों का उपशमन करता है। अयोध्याकाण्ड की यही पृष्ठभूमि है। वहाँ हम यही तो देखते हैं कि कैकेयी ने श्री राम को पाकर भी खो दिया, अयोध्या के लोग श्री राम को पाकर भी खो बैठते हैं। हमारे जीवन में भी ऐसी स्थितियाँ आती हैं, जब ईश्वर जो हमारे पास था, हमसे दूर चला जाता है। तब हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम केवल श्री राम के चरित्र को ही न पढ़ें, अपितु उसके साथ ही अपनी विवेक की दृष्टि के द्वारा मन के दर्पण में झाँकने की चेष्टा करें और अपनी कमियों को, रोग को समझें। जब हम शीशे के सामने खड़े होते हैं, तो अपनी गन्दगी या खराबी हमारी

आँखों में दिखायी दे जाती है। तब हम उसे धोकर स्वच्छ होने की चेष्टा करते हैं। यही आत्मनिरीक्षण है—मन के दर्पण में झाँकना है। इससे हमारी कमियाँ पकड़ में आती हैं। यही 'रामचरितमानस' का मूल तत्त्व है। इसीलिए इसे बार-बार मन से जोड़ा गया है। रामकथा को हम मनोरंजन की दृष्टि से भी पढ़ सकते हैं, पर यदि वह हमारे मन की समस्याओं का समाधान न करे, हमारे जीवन में परिवर्तन न लाये, तो उसकी समग्रता बाधित होती है। रामकथा का रसास्वादन एक अलग बात है, पर उसके साथ-साथ मानस-रोग का शमन यह दूसरी बात है; समग्रता वहीं है, जहाँ ये दोनों बातें हैं। जैसे, आप जब भोजन करते हैं, तब रस की अनुभूति होती है। इसकी भी आवश्यकता है। पर जब आप रुग्ण होते हैं, तब भोजन के रस पर आपकी मुख्य दृष्टि नहीं होती, तब तो वह औषध पर होती है। तो, भोजन में रस की, स्वाद की प्रधानता है और औषध में रोग-निवारण की।

हमारे काशी के एक वैद्य हैं, बड़े प्रसिद्ध हैं। उनसे यदि कोई स्वादिष्ट चूरन माँग ले, तो वे इतने बिगड़ते हैं कि पूछिए मत। कहते हैं—क्या इसे चटनी की दूकान समझ रखी है? हमने क्या कोई ठेला लगा रखा है? यहाँ रोग दूर करने आये हो या जीभ के चटोरेपन के लिए? स्वाद चाहिए तो घर में कोई स्वादिष्ट चीज बनाकर खा लो। हम जो चूरन उपयुक्त समझेंगे, देंगे। अगर स्वादिष्ट चूरन देना चाहेंगे, तो वह देंगे। पर यदि कड़वा चूरन अधिक उपयोगी समझेंगे, तो उसकी व्यवस्था करेंगे। तुम्हें मात्र यह बताना है कि तुम्हें क्या रोग हुआ है। सुझाव देने की धृष्टता मत करो। रोग के लिए जो उपयोगी होगा, हम वह करेंगे।

तो, गोस्वामीजी ने भगवान् राम के चरित्र का एक सुस्वादु भोजन के रूप में भी वर्णन किया है, यह बताया है कि उसमें बड़ा आनन्द है, रस है, पर इसके साथ ही उन्होंने उसका निरूपण एक वैद्य के रूप में भी किया है, जो रोगों को दूर करता है। तभी तो वे कहते हैं कि——

सद्गुर ग्यान बिराग जोग के।
बिबुध बैद भव भीम रोग के।। १/३१/३

——श्री राम का चरित्र ज्ञान, वैराग्य और योग के लिए सद्गुरु के समान है तथा संसाररूपी भयंकर रोग का नाश करने के लिए देवताओं के वैद्य के समान है। होना तो यह चाहिए था कि रामकथा की समाप्ति मधुर रस से होती—— 'मधुरेण समापयेत्', पर वैसा न हो मानस-रोग के उपचार से होती है,क्योंकि गरुड़ भी उसी समस्या से ग्रस्त हैं, जिसकी चर्चा हमने कुछ ही पहले की। गरुड़ को भी ईश्वर प्राप्त है, और प्राप्त ही नहीं, वे तो ईश्वर को निरन्तर अपनी पीठ पर धारण कर उड़ते रहते हैं। वे भगवान् के वाहन हैं। पर इस प्रकार उन्हें ईश्वर प्राप्त होने पर भी जब वे काकभुशुण्डि के पास आये, तो काकभुशुण्डि को आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा——गरुड़जी, सब कुछ पाने के बाद तो भगवान् को पाया जाता है; जब आपने भगवान् को पा लिया, तब मेरे पास आने का भला क्या कारण शेष रह गया ? इस पर गरुड़जी बड़ी सार्थक बात कहते हैं। वे बताते हैं कि उन्हें सर्प ने काट लिया है। अब यह तो बड़ी विचित्र बात है। माना तो यह जाता है कि गरुड़ सर्पों को खा जाते हैं, पर गरुड़जी कहते हैं कि मैं भगवान् के पास रहकर भी सर्प के काटने से नहीं बच पाया, इसीलिए आपके पास आया हूँ——

संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता।

दुखद लहरि कुतर्क बहु आता ।। ७/९२/६

——ईश्वर को पाने के बाद भी संशय से छुट्टी नहीं मिली और संशय-सर्प ने मुझे डस लिया । अब भले ही दूसरों के लिए मैं गरुड़ होऊँ, पर मेरे लिए तो आप ही गरुड़ हैं । मेरे जीवन में बहुतसी कुतर्करूपी दुःख देनेवाली लहरें आ रही थीं, पर——

तव सरूप गारुड़ि रघुनायक ।

मोहि जिआयउ जन सुखदायक ।। ७/९२/७

——आपके स्वरूपरूपी गारुड़ी के द्वारा भक्तों को सुख देनेवाले श्री रघुनाथजी ने मुझे जिला लिया । अब आप कृपा करके मुझे यह बताएँ कि ईश्वर के निकट रहकर भी कौन से ऐसे कारण बनते हैं, जिनसे व्यक्ति समस्याओं मे ग्रस्त हो जाता है । आप मेरे संशय को दूर कीजिए । और ऐसा कहकर अन्त में वे काकभुशुण्डिजी से सात प्रश्न पूछते हैं, जिनमें अन्तिम प्रश्न मानस-रोगों के सम्बन्ध में होता है । रामकथा सुनने के बाद इन प्रश्नों को पूछने का अभिप्राय भला क्या हो सकता है ?

(क्रमश:)

○

बरसात का पानी ऊँची जमीन पर नहीं ठहर पाता, बहकर नीची जगह में ही जमता है । वैसे ही ईश्वर की कृपा भी नम्र व्यक्तियों के ही हृदय में ठहरती है, अहंकार-अभिमानपूर्ण हृदय में नहीं ।

—श्रीरामकृष्ण

साधना

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने रामकृष्ण मठ, मद्रास में भक्तों को साधना के सम्बन्ध में २४-११-१९६८ को सम्बोधित करते हुए जो कहा था, वह 'वेदान्त-केसरी' अँगरेजी मासिक के मार्च १९६९ अंक में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत लेख वहीं से साभार गृहीत और अनूदित हुआ है। अनुवादक हैं ब्रह्मचारी शम्भुचैतन्य, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची में सेवारत हैं। --स०)

आध्यात्मिक साधना संघर्ष के सिवा और कुछ नहीं है। यह एक ऐसी स्थिति को प्राप्त करने का संघर्ष है, जिसमें रहते हुए हम कभी भी जीवन के उलट-फेर से प्रभावित नहीं होते और जिसे पाकर हम अनुभव करते हैं कि अब और कुछ भी पाने को शेष नहीं रहा। उस स्थिति में हमें स्पष्ट अनुभव होगा कि अब हमें कोई भी दुःख या कष्ट नहीं है; दुःख से हमारा सारा नाता टूट जाएगा। जब हम ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेंगे, तब निरन्तर आनन्द में रहेंगे तथा संसार के दुःख हमें प्रभावित नहीं करेंगे और हमारे जीवन में एक आमूल परिवर्तन आ जाएगा। गीता में भगवान् का कथन है--"जिस अवस्था में स्थित हुआ वह बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता है।"* उस स्थिति को पाना सचमुच एक संघर्ष है, जिसे हमें अत्यधिक दृढ़ता एवं अथक उत्साहपूर्वक चलाये जाना होगा।

हमारे सभी दुःखों का कारण यह है कि हमने बाह्य जगत् से अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है। हमने सम्पत्ति के साथ, रिश्तेदारों के साथ, धन के साथ और भी सबके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है। बाह्य

---

* यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते। (६/२२)

जगत् में यदि कुछ घटता है, तो हम विक्षुब्ध हो जाते हैं तथा अपना सन्तुलन खो बैठते हैं। बाह्य जगत् के साथ हमारा यह सम्बन्ध 'मैं' और 'मेरा' की भावना से होता है, और यही हमारे सब बन्धनों एवं कष्टों का कारण है। अतः हमें इस बन्धन से, बाह्य जगत् के इस सम्पर्क मे मुक्त होना होगा। जब हम बाह्य जगत् में आसक्त होते हैं, तब बद्ध हो जाते हैं और जब हम बाह्य जगत् के प्रति अनासक्त होते हैं, तब मुक्त। अतः हमारा बन्धन और हमारी मुक्ति हमारे मन पर ही निर्भर है। जब तक मन हमसे सहयोग नहीं करता, हम कोई आशाप्रद फल प्राप्त नहीं कर सकते। गुरु की, ईश्वर की और उनके भक्तों की कृपा प्राप्त करके भी, एक की कृपा के बिना अर्थात् मन की कृपा के विना, मन की सहायता के बिना हमारे सब प्रयत्न निर्रथक हो जाते हैं। इसलिए मन ही महत्त्वपूर्ण है। ईश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया, इसलिए इन्द्रियाँ सर्वदा विषयों की ओर दौड़ती हैं, किन्तु जो लोग सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं, उन्हें अपनी इन्द्रियों को बाह्य जगत् से विमुख करना होगा और भीतर की ओर मोड़ना होगा। हमें मन एवं इन्द्रियों को वश में करना होगा।

जब तक हमें यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता कि बाह्य जगत् अनित्य और क्षणभंगुर है, तब तक बाह्य जगत् के प्रति हमारी यह आसक्ति नहीं जाएगी। जब हमें इसकी स्पष्ट प्रतीति होगी, तभी बाह्य जगत् के प्रति हमारी आसक्ति दूर होगी। इसके लिए हमें विवेकपूर्वक विचार करना होगा और जानना होगा कि सत्य क्या है, असत्य क्या है; हमें दुःख का कारण ढूँढ़ निकालना होगा और जानना होगा कि इस जगत् का मूल आधार क्या है। इस

प्रकार से यदि हम विवेक का अभ्यास करें तथा यह जानने का प्रयत्न करें कि सत्य क्या है, असत्य क्या है, और साथ ही सत्य को पाने का प्रयत्न करें एवं असत्य को त्याग दें, तभी बाह्य जगत से हमारे अनासक्त होने की कुछ आशा है । हमें केवल इहलोक नहीं, परलोक की भी समस्त भोग-स्पृहा को त्यागना होगा । सामान्यत: हम जो कुछ अच्छा काम करते हैं--यज्ञ, दान अथवा दूसरों की सेवा करते हैं, वह सब पुण्य अर्जित करने के लिए करते हैं । इन अच्छे कार्यों से प्राप्त पुण्य के द्वारा हम स्वर्ग में जा सकते हैं तथा वहाँ पुण्य का फल भोग सकते हैं, किन्तु शास्त्रों का यह भी कथन है कि यह भोग भी स्थायी नहीं होता । इसकी भी एक सीमा है और जब यह सीमा समाप्त हो जाती है, हमारे पुण्य समाप्त हो जाते हैं, तब हमें इस संसार में पुन: लौटना पड़ता है तथा नये सिरे से आरम्भ करना पड़ता है । इसलिए जो विवेकी हैं, वे जान लेते हैं कि स्वर्ग में जाने की इच्छा भी एक बन्धन है, जो हमारी भगवत-प्राप्ति में बाधक होती है । अत: परलोक के भोगों को भी त्यागना होगा । तदनन्तर हमें भगवत्साक्षात्कार के लिए व्याकुलता लानी होगी । इसी जीवन में ईश्वर के दर्शन करने की तीव्र उत्कण्ठा हमारे मन में होनी चाहिए, तभी हम तीव्रता से आगे बढ़ पाएँगे ।

हमें यह भलीभाँति समझना होगा कि इस संसार में आने का उद्देश्य ईश्वर का दर्शन करना ही है । तीन वस्तुएँ दुर्लभ कही गयी हैं । मनुष्य का जन्म, मोक्ष की आकांक्षा और महापुरुषों का सान्निध्य । मनुष्य-जीवन का मुख्य उद्देश्य ईश्वर के दर्शन करना है, किन्तु हम सदा इसको भूल जाते हैं तथा अपना जीवन व्यर्थ गँवा देते हैं । एक

जापानी लड़के के बारे में एक सुन्दर कहानी है । किसी जापानी परिवार में एक लड़का नौकर था । एक दिन सुबह उसे कुछ खरीदने के लिए शहर भेजा गया । उसके मालिक ने उसे आवश्यक पैसे दिये । वह लड़का शहर में गया तो, किन्तु वह एक देहाती लड़का था, इसलिए शहर की चमक-दमक, दुकानों और अन्य वस्तुओं को देख मोहित हो गया । वह रोमांच का अनुभव करता हुआ कभी रुकता, कभी देखता, एक दुकान से दूसरी दुकान तक जाता, एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमता और इस प्रकार शहर में आने का उद्देश्य ही भूल गया । शाम को वह अपने मालिक के लिए बिना कुछ खरीदे ही वापस लौटा । लौटने पर उसके मालिक ने उससे पूछा, "मेरी चीजें कहाँ हैं ?" उसने कहा, "अरे, मैं तो वह सब खरीदना भूल ही गया——शहर की चकाचौंध से इतना मोहित हो गया कि सामान खरीदना बिलकुल भूल गया ।" हमारी भी प्रायः यही स्थिति है । हम इस संसार में आये हैं । मनुष्य-जन्म पाने के बाद भगवत्साक्षात्कार की चेष्टा करने के बदले हम इन्द्रिय-सुख की ओर जाते हैं और अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य भूल जाते हैं । हम सत्पुरुषों का सग नहीं खोजते, जो अति आवश्यक है । यदि हम सत्पुरुषों का संग करें तो उन्हें देख, उनकी बातें सुन, उनके आचरण को लक्ष्य कर और जीवन के प्रति उनका रुख देख हम प्रभावित होंगे तथा उनका अनुकरण करने की चेष्टा करेंगे । जब कभी हम एक धार्मिक मनुष्य के पास जाते हैं, तो हमारा मन उच्च स्तर पर उठ जाता है और कम से कम उस समय तक के लिए हम संसार को और सांसारिक झमेलों को भूल जाते हैं । यदि हम सत्पुरुषों का संग लगातार करें, तो संसार के प्रति

हमारी आसक्ति धीरे-धीरे कम होगी; किन्तु सत्पुरुषों का संग पाना बहुत कठिन है, और दीर्घकाल तक वह पाना तो और भी कठिन है। फिर भी हम धर्मशास्त्र पढ़ सकते हैं। श्रीरामकृष्णदेव की जीवनी, श्रीरामकृष्णवचनामृत, भागवत, गीता, सन्तों की जीवनियाँ आदि पढ़ना अच्छा है। जब हम ऐसी पुस्तकों को पढ़ते हैं, तब हमें लगता है मानो हम महापुरुषों के संग में हैं। इस प्रकार हम सत्संग कर सकते हैं और भगवत्साक्षात्कार के लिए संघर्ष जारी रख सकते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं कि उन्होंने साधकों की सामर्थ्य के अनुसार भगवत्साक्षात्कार के लिए तीन विभिन्न मार्गों का निर्देश किया है। जो लोग अनासक्त हैं, संसार के भोगों की ओर से उदासीन हैं, उन लोगों के लिए ज्ञानमार्ग का निर्देश किया गया है तथा जो लोग संसार में तथा इन्द्रिय-भोगों में अत्यधिक आसक्त हैं, उनके लिए कर्मयोग का। फल की आकांक्षा से किया गया कर्म भी उपयोगी है, क्योंकि कालान्तर में यह हमें ऐसी स्थिति को पाने में सहायता करता है, जब हम फल की आकांक्षा के बिना कर्म करने में समर्थ हो सकते हैं। जब हम फल की आकांक्षा के बिना कर्म करना प्रारम्भ करते हैं, तब हमारे मन में विवेक-विचार का उदय होता है। हम जानने का प्रयत्न करते हैं कि जगत् सत्य है या मिथ्या और हम सत्य को मिथ्या से अलग करने की चेष्टा करते हैं। जब हम समझ लेते हैं कि जगत् आखिर में मिथ्या ही है, तब हम सत्य को पाने के लिए आतुर होते हैं और किसी प्रबुद्ध व्यक्ति के पास उपदेश के लिए जाते हैं एवं धीरे-धीरे सत्य की ओर अग्रसर होने का प्रयास करते हैं। किन्तु अधिकांश व्यक्ति

बीच की अवस्था में हैं । वे लोग न तो सांसारिक भोगों की ओर से उदासीन ही हैं, न ही उनमें पूर्णतः लिप्त । उनमें ईश्वर के प्रति कुछ भक्ति है, कुछ विश्वास है, किन्तु वासनाओं का प्रलोभन पूर्णतया मिटा नहीं है । इन लोगों के लिए भक्तिमार्ग का निर्देश किया गया है ।

भक्ति के इस मार्ग में हम द्वैत से प्रारम्भ करते हैं; हम कहते हैं कि ईश्वर महान् हैं, हम उनकी पूजा करते हैं, उन्हें भेंट चढ़ाते हैं और इस प्रकार हम उन्हें सदा अपने से भिन्न एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में सोचते हैं । इस प्रकार द्वैत से आरम्भ करके हम सगुण-साकार ईश्वर के सर्वोच्च स्वरूप की ओर अग्रसर होते हैं । कालान्तर में हम उनकी कृपा से उससे भी उच्चतर अवस्था में—निर्गुण ईश्वर में उठ जाते हैं । सगुण ईश्वर का दर्शन करना अपने आपमें एक बहुत बड़ी बात है; और एक बार यदि हम सगुण ईश्वर का दर्शन कर लें और उनकी कृपा प्राप्त कर लें तो निर्गुण ईश्वर की उपलब्धि अधिक कठिन न होगी । सगुण ईश्वर की उपासना के तीन सोपान हैं । पहला सोपान वह है, जिसमें हम आनुष्ठानिक पूजा करते हैं । जब हम बाह्य पूजा में बहुत अधिक रुचि लेने लगते हैं, जब इस प्रकार की पूजा में हमारा मन अनुरक्त हो जाता है, तब उसमें जप के लिए उन्मुखता पैदा होती है । बार-बार भगवान् का नाम दुहराना ही जप है । जप से हमारा मन एकाग्र होता है और अन्त में हमें भगवत्प्राप्ति की ओर ले जाता है ।

भगवन्नाम की महत्ता को दर्शानेवाली एक सुन्दर पौराणिक कहानी है । एक बार सत्यभामा ने व्रत लिया कि वे श्रीकृष्ण को सोने से तौलेंगी और वह सोना दान में

दे देंगी । श्रीकृष्ण को तराज़ू के एक पलड़े में बैठाया गया और सत्यभामा ने दूसरे में सोना रखा । किन्तु श्रीकृष्ण बहुत भारी थे । सत्यभामा जितना सोना पा सकीं, सब तराज़ू में रखा गया, किन्तु फिर भी श्रीकृष्ण का पलड़ा जमीन से ऊपर नहीं उठा । वे बहुत ही उलझन में पड़ गयीं और रुक्मिणी के पास सहायता के लिए गयीं तथा उन्हें सब कुछ बताया । रुक्मिणी ने कहा, "अच्छा, चिन्ता मत करो , मैं आती हूँ ।" उन्होंने आकर तुलसी का एक पत्ता लिया और उस पर श्रीकृष्ण का नाम लिख उसे सोनेवाले पलड़े पर रख दिया । उसके रखते ही पलड़ा झुक गया । यह नाम की महत्ता को दर्शाता है । नाम और नामी अभेद हैं । यदि हम भगवन्नाम का जप करें, तो हम उनके दर्शन पा लेंगे, क्योंकि नाम में भगवान् को प्रकट करने की शक्ति है ।

कई लोग साधना प्रारम्भ तो करते हैं, किन्तु अल्प समय में ही जब उन्हें कोई प्रत्यक्ष फल नहीं मिलता, तो निराश हो जाते हैं । किन्तु आध्यात्मिक साधना एक लम्बी प्रक्रिया है । मन के स्थिर होने से पहले बहुत-सी चीजों को सीखना और करना आवश्यक होता है । हमें दीर्घकाल तक संघर्ष करते रहना होगा । यदि हम एक लपेटी हुई टिन की चादर को सीधा करना चाहें,तो केवल एक बार उसे खोलकर रखने से नहीं होगा । हमें उसे पहले उल्टी दिशा में मोड़ना होगा तथा सुदीर्घ काल तक उसे दबाकर रखना होगा । तब कहीं वह सीधी होगी और फिर नहीं मुड़ेगी । हमारा तो दीर्घकाल से संसार के बारे में सोचने का अभ्यास बना हुआ है——केवल इसी जीवन में नहीं, अपितु पूर्वजन्मों में; इसलिए हठात् हमारे मन का वश में हो जाना और

भगवान् के बारे में सोचना असम्भव की प्रत्याशा करना मात्र है। मन तो सर्वदा टालना और भागना चाहता है। जब-जब वह पथभ्रष्ट होता है, तब-तब हमें उसे वापस सही मार्ग पर लाना होगा एवं इष्ट के ध्यान में निमग्न करना होगा। निरन्तर अभ्यास आवश्यक है। यह स्थिति लाने के लिए कि मन में एक ही शुभ विचार बना रहे और बाकी सब दूर हो जाए, लगातार अभ्यास की आवश्यकता है। पर्याप्त दृढ़ता और उत्साह से अभ्यास जारी रखना होगा। हमें केवल इष्ट के बारे में ही सोचना होगा और बाकी सब विचारों को निकाल देना होगा; और यह सब पर्याप्त लम्बे समय तक करते रहना होगा। तभी हमें ध्यान का स्वाद मिल पाएगा। ऐसा कहा जाता है कि जो लोग पित्त से पीड़ित होते हैं, उन्हें औषध के रूप में मिसरी दी जाती है। किन्तु उन्हें वह बहुत कड़वी लगती है। फिर भी मिसरी ही उनके लिए औषध होने का कारण उन्हें दीर्घकाल तक खिलायी जाती है। जब रोग दूर होता है, तब उनके स्वाद की पुरानी क्षमता लौट आती है और उन्हें मिसरी मीठी लगने लगती है। इसी प्रकार हम लोग सांसारिक भोगों के पित्त से पीड़ित हैं, अतः भगवान् का नाम कड़वा लगता है, किन्तु भगवान् का नाम लेना और उनका ध्यान करना ही इस रोग का एकमात्र उपचार है। हमें निरन्तर जप करते रहना चाहिए, इससे कालान्तर में संसार के प्रति हमारी आसक्ति छूट जाएगी, हम पित्त से मुक्त हो जाएँगे और तब भगवान् का नाम मधुर लगने लगेगा।

प्रारम्भ में निस्सन्देह हमारे लिए यह सब कष्टकर होगा; ध्यान करना हमारे लिए एक बहुत ही नीरस बात

होगी, किन्तु अथक प्रयत्नों के द्वारा हम इस नीरस कालावधि को पार कर सकते हैं। हममें सर्वदा यह विश्वास रहना चाहिए कि हम इसी जीवन में भगवान् का दर्शन करेंगे। इस प्रकार के विश्वास के बिना आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना सरल न होगा। हमेशा कठोर प्रयत्न करना चाहिए तथा सर्वदा इसका भी ज्ञान होना चाहिए कि ठीक ठीक वैराग्य क्या है। वैराग्य किसे कहते हैं? 'विराग' का अर्थ है––मन में सुप्त सभी वासनाओं को त्याग देना। यदि हम विवेक का अभ्यास करें और मन में जितनी वासनाएँ हैं, उनको त्याग दें तथा इस प्रकार मन को शुद्ध कर लें, तो हमारा ध्यान भी सुस्थिर होगा। यदि मन शुद्ध है तथा उसमें वासनाएँ नहीं हैं तो मन चंचल नहीं होगा। वासनाएँ ही मन को चंचल करती हैं, और यदि मन में कोई वासना न रहे तो यह शान्त और स्थिर हो जाएगा। ऐसे मन के द्वारा हम ईश्वर का या आत्मा का दर्शन कर सकेंगे। अतएव मन को शुद्ध करने का सतत प्रयत्न आवश्यक है। हरदम हमें मन की निगरानी करनी होगी––एक पुलिस अफसर के समान निगरानी करनी होगी। निर्दिष्ट ध्येय वस्तु को छोड़कर जब कभी भी मन बाहर भागे तथा दूसरी बातें सोचने लगे, तब उसे उसी क्षण वहाँ से हटाकर पुन: ध्येय वस्तु में लगाना होगा। ऐसा सतत प्रयास अति दीर्घकाल तक चलाये जाना होगा। दीर्घ अभ्यास के बाद संघर्ष सहज हो जाएगा और मन इतने दिनों तक जैसा सोचता आ रहा था, उससे भिन्न प्रकार से सोचने का अभ्यस्त होगा। तब मनोनिग्रह स्वत:सिद्ध हो जाएगा। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे कि जिसने ईश्वर के दर्शन कर लिये हैं, उसके पाँव कभी बेताल नहीं

पड़ते । अनुचित कदम उठाना उसके लिए असम्भव हो जाता है, क्योंकि ईश्वर-दर्शन की प्राप्ति तक उसने सारा जीवन दृढ़तापूर्वक मनोनिग्रह किया है, और अब उसके मन के लिए विचलित होना, डगमगाना और गलत काम करना असम्भव हो जाता है । प्रारम्भ में एक साधारण व्यक्ति के लिए इन्द्रिय-निग्रह करना नितान्त असम्भव है; उसी प्रकार जब कोई ईश्वर-दर्शन कर लेता है, तब उसके मन के लिए कुछ गलत करना भी असम्भव हो जाता है; क्योंकि दीर्घ अभ्यास के बाद वह सही काम करने का आदी हो जाता है । इसलिए मन ही सब कुछ है । यदि हम उसे सही अवस्था में रखें, अनुशासित एवं सुनियंत्रित रखें, तो वह हमारे वश में हो जाता है । हमें यह देखना होगा कि यह मनरूपी यंत्र जिसके द्वारा हमें अपना लक्ष्य प्राप्त करना है, चाहे वह लक्ष्य सांसारिक हो अथवा ईश्वर-दर्शन से सम्बन्धित, सजग और स्वस्थ हो । यदि मन को बिना लगाम के खुला छोड़ दिया जाय, तो हम इस पार्थिव जगत में ही बहुत कम उपलब्धि कर पाते हैं, आध्यात्मिक जगत् की बात तो छोड़ ही दें । अतएव हमें पूजा के द्वारा मन को शुद्ध करने का दृढ़ एवं निरन्तर अभ्यास करना होगा और निरन्तर जप, सत्संग तथा स्वाध्याय के सतत अभ्यास के द्वारा उसे सर्वदा भगवान् के चरणों में लगाना होगा——उसे सब कुछ छोड़कर केवल एक ईश्वर के ही सन्धान में जाने के लिए बाध्य करना होगा ।

○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) क्रियासिद्धिः सत्वे वसति

महाराजा भोज बड़े ही रसिक एवं कविहृदय थे। विद्वानों के लिए उनके द्वार सदैव खुले रहते थे। उनकी काव्य-प्रतिभा से प्रभावित हो, महाराज उन्हें विपुल धन दे उनका यथोचित सम्मान करते थे।

एक बार उनके दरबार में एक वृद्ध ब्राह्मण अपनी पत्नी, पुत्र तथा स्नुषा के साथ आया। उन चारों के मुख से विद्वत्ता की आभा टपक रही थी। महाराज ने उन्हें समस्या-पूर्ति के लिए एक चरण दिया--'क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे', और उनसे कहा कि उनमें से जो कोई भी इसकी अच्छी समस्या-पूर्ति करेगा, उसे एक लाख मुहरें दी जाएँगी।

सर्वप्रथम वृद्ध ने सूर्य का उदाहरण देते हुए निम्न श्लोक पढ़ा--

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगा
निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि।
रविर्गच्छत्यन्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे॥

--अर्थात् 'सूर्य के रथ का पहिया एक ही है; रथ के सातों घोड़ों को वश में रखने का साधन सर्पों की रास है; जिस मार्ग से वह चलता है, उसका कोई अवलम्ब नहीं है; उसका सारथि अरुण पंगु है। इन सब बाधाओं के होते हुए भी सूर्य प्रतिदिन आकाश के एक छोर से दूसरे छोर तक गमन करता है। इससे यही सिद्ध होता है कि महान् पुरुषों की सिद्धि उनके गुणों पर निर्भर करती है, बाह्य उपकरणों पर नहीं।'

श्लोक सुनकर राजा भोज बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने विप्र-पत्नी से कहा, "माताजी, क्या आप भी इसकी पूर्ति करेंगी।"

विप्र-पत्नी ने हामी भरी और उसने यह श्लोक पढ़ सुनाया—

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनो
वने वासः कंदाशनमपिच दुःस्थं वपुरिदम्।
तथाप्येकोऽगस्त्यः सकलमपिबद् वारिधिजलं
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे॥

—'अगस्त्य मुनि का जन्म एक घड़े में हुआ। हरिण उनके परिजन थे और वृक्षों के वल्कल उनके वस्त्र। वन में उनका वास था और कन्द-मूल-फल उनका आहार। फिर भी समूचे समुद्र को उन्होंने अकेले ही पी डाला। इससे सिद्ध होता है कि महान् पुरुषों की सिद्धि उनके गुणों पर निर्भर करती है, बाह्य उपकरणों पर नहीं।'

जब विप्र-पुत्र की ओर राजा ने देखा, तो उसने निम्न श्लोक पढ़ा—

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधिः
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्येको रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे।

—'लंका को जीतना था, किन्तु इसके लिए विशाल समुद्र को पार करना था और उस पर कोई सेतु नहीं था। रावण-जैसा बलाढ्य शत्रु था और रणभूमि में सहायक थे वानर। ऐसी विषम परिस्थितियों में भी भगवान् राम ने सम्पूर्ण राक्षसकुल का नाश किया। इससे सिद्ध होता है कि महान् पुरुषों की सिद्धि उनके गुणों पर निर्भर करती है,

बाह्य उपकरणों पर नहीं ।'

तब महाराज ने विप्र-स्नुषा से पूछा, "देवी ! क्या आप भी अपनी कल्पना-विलास का प्रदर्शन कर अपनी प्रतिभा का परिचय देंगी ?" तब उसने कामदेव के सन्दर्भ में यह श्लोक पढ़ा—

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चंचलदृशां
दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जडात्मा हिमकरः ।
तथाप्येकोऽनंगस्त्रिभुवनमपि व्याकुलयति
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे ।।

—'कामदेव का धनुष पुष्पों का है, उसकी प्रत्यंचा भौरों की है और बाण लोहे के नहीं, बल्कि चंचल कामिनियों की तिरछी चितवनों से बने हैं। उसका सखा चन्द्रमा जड़ एवं शीतल है। फिर भी यह अंगहीन कामदेव सारे त्रिभुवन को व्याकुल कर देता है। स्पष्ट है कि महान् पुरुषों की सिद्धि उनके गुणों पर निर्भर करती है, बाह्य उपकरणों पर नहीं ।'

चारों की काव्य-रचना से राजा भोज बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रत्येक को एक लक्ष मुद्रा देकर उनका सम्मान किया ।

(२) विद्या शीलरूप की खानि

एक बार सम्राट् चन्द्रगुप्त चाणक्य से किसी बात पर चर्चा कर रहे थे कि अकस्मात् चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से कहा, "आपकी विद्वत्ता, सूझ-बूझ और चातुर्य की मैं दाद देता हूँ। मगर क्या ही अच्छा होता, यदि भगवान् ने आपको सुन्दर रूप दिया होता !"

चाणक्य ने जान लिया कि राजा को अपने सौन्दर्य का घमण्ड हो गया है और वे सौन्दर्य के सामने विद्या को

नगण्य समझ रहे हैं। चाणक्य ने सेवक को बुलाकर मिट्टी और सोने के एक-एक पात्र में जल लाने के लिए कहा। उसके द्वारा पात्र लाने पर चाणक्य ने राजा से पहले मिट्टी के पात्र का और बाद में स्वर्ण-पात्र का जल पीने के लिए कहा। फिर राजा से प्रश्न किया, "महाराज, किस पात्र का जल शीतल लगा?" चन्द्रगुप्त ने उत्तर दिया, "मिट्टी के पात्र का।"

इस पर चाणक्य ने कहा, "महाराज, वैसे तो दोनों ही पात्रों में ढाला गया जल शीतल था, किन्तु बाहर से सुन्दर दिखायी देनेवाले स्वर्ण-पात्र का जल शीतल नहीं रहा, जब कि मिट्टी के पात्र का जल पूर्ववत् शीतल रहा। यही बात सौन्दर्य और विद्या की है। सुन्दरता और कुरूपता का विद्या से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि सौन्दर्य से विद्या श्रेष्ठ है।"

(३) क्रोधात् भवति संमोहः

बाबर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हुमायूँ गद्दी पर बैठा। गुजरात और दक्षिण भारत के राज्यों को अपने कब्जे में करते हुए वह बंगाल की ओर बढ़ा और उसने शेरशाह पर आक्रमण किया, लेकिन वह कामयाब न हो सका और उसे पश्चिम की ओर भागना पडा। रास्ते में जब उसे पता चला कि गुरु नानक के आसन पर विराजमान गुरु अंगद पास में ही उपदेश दे रहे हैं, तो वह उनका आशीर्वाद लेने के लिए भेंट लेकर उनके पास पहुंचा। उस समय अंगददेव ध्यानमग्न थे, अतः हुमायूँ की ओर ध्यान न दे सके। जब बहुत देर तक उन्होंने आँखें नहीं खोलीं, तो हुमायूँ को गुस्सा आया और उसने म्यान से तलवार निकालनी चाही। तलवार की आवाज से गुरु अंगद का ध्यान भंग हो गया और उन्होंने आँखें खोलीं।

सामने बादशाह को क्रोधित मुद्रा में तलवार निकालते देख सारी बात उनके ध्यान में आ गयी। उन्होंने हुमायूँ से कहा, "बड़ी जल्दी गुस्सा आता है तुम्हें ! क्या तुम जानते नहीं कि गुस्से से आदमी की अकल मारी जाती है और अकल मारी जाने पर समझदारी नहीं रह जाती और समझदारी न रहने पर वह गलत काम कर बैठता है और फिर उसका नाश होने में देर नहीं लगती ? गुस्से के साथ साथ तुम्हें अपनी ताकत का भी घमण्ड है। मगर शेरशाह के सामने तो तुमने हार मान ली और ताकत एक फकीर के सामने दिखा रहे हो ? लेकिन मैं इसे बुरा नहीं मानता, और तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि कुछ कष्ट झेलने के बाद तुम्हारी जीत होगी।"

कालान्तर में हुमायूँ को विजयश्री मिली। उसे अंगददेव के शब्दों का स्मरण हो आया। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उसने जाने की सोची, किन्तु तब तक गुरु अंगददेव का स्वर्गवास हो चुका था और उनके स्थान पर गुरु अमरदास विराजमान थे, इस कारण वह उनसे न मिल सका।

(४) साईं सबका एक है

अरब के एलेप्पो नगर में यहूदी सन्त सिम्शा बुनेम रहते थे। वे बड़े ही धनी और संयमी थे। एक दिन बादशाह ने उन्हें बुलाकर प्रश्न किया, "संसार में तीन पैगम्बर हो गये हैं—एक मूसा, जिसने यहूदी धर्म चलाया, दूसरा ईसा, जिसने ईसाई धर्म चलाया और तीसरा मोहम्मद, जिसने इस्लाम धर्म चलाया। इन तीनों में सबसे श्रेष्ठ और सच्चा धर्म कौनसा है ?" बादशाह ने सोचा था कि यदि सन्त सिम्शा किसी भी धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताते

हैं तो दूसरे धर्मों का अपमान करने का इलज़ाम लगाकर उनकी सारी सम्पत्ति हड़पी जा सकती है।

बादशाह की चालाकी सन्त के ध्यान में आ गयी। उन्होंने कहा, "पहले एक कहानी सुनिए। एक व्यापारी के पास एक हीरा था, जिसे उसके तीनों लड़के हड़पना चाहते थे। व्यापारी पसोपेश में था कि हीरा किसे दिया जाए। आखिर उसने उस हीरे के समान हूबहू दो नकली हीरे बनवाये और एक दिन उन तीनों को अलग अलग बुलाकर एक-एक हीरा उन्हें दे दिया, मगर उसने उन्हें यह पता न चलने दिया कि दूसरे बेटों को भी उसने हीरा दिया है। इस बात से बेखबर हर लड़का यही सोचता था कि बाप ने खुश होकर हीरा उसे ही दिया है। असली हीरा किसके पास है यह बात व्यापारी के अलावा और कोई नहीं जानता था।"

कहानी को सुनाकर सन्त ने आगे कहा, "यही बात तीनों धर्मों के बारे में है। हज़रत मूसा, ईसा और पैगम्बर ये तीनों भगवान् का पैगाम लेकर आये हैं और उन्होंने अपने-अपने धर्म के रूप में लोगों में प्रचार किया। इन धर्मों के अनुयायी अपने ही धर्म को सच्चा और श्रेष्ठ समझते हैं। लेकिन इन तीनों का कर्ता एक ईश्वर होने के कारण वही जानता है कि सच्चा धर्म कौनसा है। इसलिए हमें तो यही मानना पड़ेगा कि हर धर्म श्रेष्ठ है और उसकी दूसरे धर्म से तुलना नहीं की जा सकती।"

(५) मनुज जनम का मोल है

तैमूरलंग बड़ा ही निर्दयी और खूँखार शासक माना जाता है। उसे इस बात का घमण्ड था कि दुनिया में उसके समान क्रूर और महत्त्वाकांक्षी बादशाह हुआ ही नहीं है। एक बार उसकी कुदृष्टि गुलामों पर पड़ी। उसने सिपाहियों

को हुक्म दिया कि जो भी गुलाम सामने दिखायी दे, उसका सिर धड़ से अलग कर दिया जाए और चुनिन्दे गुलामों को गिरफ्तार कर पेश किया जाए ।

सिपाहियों ने उसके आदेश के मुताबिक कुछ गुलामों को गिरफ्तार कर एक पंक्ति में खड़ा किया । इन गुलामों में तुर्किस्तान के सन्त कवि अहमदी भी थे । उन सबको एक एक कर बादशाह के सम्मुख लाया गया, जो उन पर कटु व्यंग्य कसता और यातना देकर प्रसन्न होता । जब सन्त अहमदी की बारी आयी, तो तैमूर ने कहा, "अच्छा तो आप ही हैं तुर्किस्तान के मशहूर शायर ! मगर शायर तो बड़े पारखी होते हैं ! क्यों ठीक है न ?"

"हुजूर ने ठीक फरमाया । शायर लोग अच्छी-बुरी, हल्की-भारी सभी चीजों की परख करने में कुशल होते हैं," सन्त ने जवाब दिया ।

"क्या वे आदमी की भी परख कर सकते हैं ?" तैमूर ने अगला प्रश्न किया ।

"बेशक !" शायर ने कहा, "दुनिया की हर चीज की कीमत होती है । फिर आदमी को भला कैसे अलग किया जा सकता है ?"

"क्या आदमी की भी कीमत होती है ?"

"हाँ, आदमी की कीमत उसके पेशों और वर्ताव पर निर्भर करती है । आदमी का पेशा और बर्ताव जितना अच्छा होता है, उसकी कीमत उतनी ही ऊँची होती है ।"

"अच्छा, इन दो गुलामों की क्या कीमत होगी ?"

"हुजूर, इनकी कीमत आँकने में समय लगेगा, फिर भी मेरे अन्दाज़ से चार हजार अर्शाफियों से कम नहीं होगी ।"

"अच्छा, और मेरी ?" उसके इस प्रश्न में अभिमान

और दर्प भरा था, मगर सन्त कवि ने शान्त भाव से तैमूर की ओर ऊपर से नीचे देखकर निडरता से जवाब दिया, "यही कोई २४ अशर्फियाँ !"

ये शब्द सुनते ही शहंशाह आगबबूला हो गया, बोला, "क्या कहा कम्बख्त--चौबीस अशर्फियाँ ! होश में तो है तू ? तेरा सिर उड़ाकर मांस को कुत्तों को नोंच-नोंचकर खिलाऊँगा । बता तूने मेरी कीमत इन दो कौड़ियों के गुलामों से भी कम कैसे आँकी ?"

"हुजूर, गुस्ताखी माफ हो । जो आदमी दुखी या पीड़ितों की सेवा करना नहीं जानता, बल्कि अपने से छोटों, गुलामों और दूसरे धर्मवालों का कत्ले-आम करता है, निरपराध बूढ़ों, स्त्रियों और बच्चों को भी नही बख्शता, जो एक लाख खोपड़ियों के खून का प्यासा है, उसकी कीमत २४ अशर्फियाँ भी ज्यादा है ।"

"अच्छा, तो क्या मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था ?"

"हाँ, हुजूर ! इस बारे में संस्कृत का एक श्लोक सुनिए—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवति वृथाऽत्रैव न क्वचित् सुखमेधते ।।

--अर्थात् 'जो आदमी अपने सुख के लिए दूसरे निरीह प्राणियों को मारता है, कष्ट देता है, उसका जीना व्यर्थ है । उसे कभी भी सुख नहीं मिल सकता'।"

तैमूर के पापी हृदय पर ये शब्द चोट कर गये । उसने महसूस किया कि उसने नाहक ही लाखों मनुष्यों को मौत के घाट उतारा है । उसे अपने किये पर पश्चात्ताप हुआ । उसने सन्त अहमदी के साथ साथ अन्य गुलामों को भी ससम्मान मुक्त कर दिया और भविष्य में बेकसूर लोगों को तंग न करने का प्रण किया । ○

ईश्वर की प्राप्ति : अवतार-योग

(गीताध्याय ४, श्लोक ९-१०)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।९।।

अर्जुन (हे अर्जुन) यः (जो) मे (मेरे) एवं (इस प्रकार) दिव्यं (अलौकिक) जन्म (शरीर-धारण) च (और) कर्म (कर्म) त्यवतः (यथार्थ रूप से) वेत्ति (जानता है) सः (वह) देह (देह को) त्यक्त्वा (छोड़कर) पुनः (फिर से) जन्म (जन्म) न (नहीं) एति (प्राप्त करता) माम् (मुझे) एति (प्राप्त करता है)।

"हे अर्जुन, जो इस प्रकार मेरे जन्म की अलौकिकता और कर्म की दिव्यता को यथार्थ रूप से जानता है, वह देह त्यागने के पश्चात् फिर जन्म न लेकर मुझसे आ मिलता है।"

इससे पूर्व के दो श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने ईश्वर के अवतरण का कारण प्रतिपादित किया—यह बताया कि वह निर्गुण-निराकार ईश्वर कब और क्यों गुण और आकार की सीमा स्वीकार कर नर-वपु धारण करता है। अब यहाँ पर वह उपाय प्रदर्शित कर रहे हैं, जिसके द्वारा उस ईश्वर की प्राप्ति होती है। उपाय है—अवतार के जन्म और कर्म की दिव्यता को तत्त्व से जानना।

यहाँ पर तीन बातें बतायी गयी हैं—(१) अवतार के जन्म की दिव्यता, (२) अवतार के कर्म की दिव्यता और (३) इस जन्म और कर्म की दिव्यता का स्वरूप से ज्ञान। यहाँ पर श्रीकृष्ण द्वारा जो 'मे' (मेरा) शब्द का उपयोग किया गया, उससे यह न समझा जाय कि यह बात केवल श्रीकृष्ण के ही सन्दर्भ में सत्य है। वह ईश्वर के

समस्त अवतारों पर लागू होती है। यह अवतार के माध्यम से ईश्वर-प्राप्ति का उपाय है, इसलिए इसे अवतार-योग भी कहा जा सकता है। चार योगों की बात तो हम पढ़ा ही करते हैं---ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और राजयोग। अब 'रामचरितमानस' जसे एक नया योग---दैन्ययोग---प्रदान करता है, उसी प्रकार गीता हमें अवतार-योग के रूप में एक नये योग का सुन्दर उपहार प्रदान करती है। यह योग कहता है कि यदि तुम ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हो तो आओ, मैं तुम्हें एक सरल पथ बताता हूँ---अवतार के जन्म और कर्म की दिव्यता का चिन्तन करो; सोचो कि वे परम कारुणिक भगवान् अपना कोई प्रयोजन न होते हुए भी जीवों के दु:खों के शमन का उपाय प्रदर्शित करने के लिए नर-तनु धारण करते हैं और अपने जीवन में शोक-दु:ख अंगीकार करते हैं, सोचो कि उनके लिए कोई कर्तव्यता न होते हुए भी वे मानव-देह धारण कर सतत कर्म करते दिखायी देते हैं, जिससे जीव के समक्ष आदर्श जगमगाता रहे। भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्य गीता पर अपनी भूमिका में लिखते हैं---"स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्य-तेजोभि: सदा संपन्न: त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अज: अव्यय: भूतानाम् ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव: अपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्ष्यते"---अर्थात् 'ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति , बल, वीर्य और तेज आदि से सदा सम्पन्न वे भगवान् यद्यपि अज, अविनाशी, सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव हैं, तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी माया को वश में करके अपनी लीला से शरीरधारी की तरह उत्पन्न हुए-से

और लोगों पर अनुग्रह करते हुए-से दीखते हैं ।' वे ऐसा क्यों दीखते हैं ? क्या इसमें उनका कोई प्रयोजन है ? आचार्य शंकर आगे लिखते हैं---"स्वप्रयोजनाभावे अपि भूतानुजिघृक्षया"---'भल ही उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी भूतों पर दया करने की इच्छा से' वे ऐसा करते हुए दिखायी देते हैं । यही उनके दिव्य जन्म और दिव्य कर्म की व्याख्या है ।

गोस्वामी तुलसीदासजी 'रामचरितमानस' में भगवान् के जन्म और कर्म की दिव्यता का बड़ा सुन्दर चित्र अंकित करते हैं । वे यह नहीं मानते कि ईश्वर का जन्म होता है, वे कहते हैं कि उनका प्राकट्य होता है । जन्म तो साधारण जीव का होता है । दिव्य जन्म का तात्पर्य है प्राकट्य । इसलिए जहाँ पर भी ईश्वर 'जात इव'---जन्म लेता हुआ-सा दिखायी देता है, वे लिखते हैं---'जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम' (१/१९१), 'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला' (१/१९१ छं), आदि । फिर उनके कर्म भी दिव्य हैं । सामान्य जीवों की भाँति उनके कर्म किन्हीं संस्कारों का परिणाम नहीं होते । जीव तो कर्म करने के लिए बाध्य है और वह कर्म-संस्कारों से बँधा हुआ है । ईश्वर जब नर-देह धारण करते हैं, तब उन्हें ऐसी कोई बाध्यता नहीं होती, उन पर कर्म का कोई बन्धन नहीं होता । गोस्वामीजी अरण्यकाण्ड में भगवान् श्री राम का एक सुन्दर चित्र खींचते हैं । सीताजी का हरण हो चुका है, वे शबरी से विदा ले पम्पासरोवर में आते हैं, उसमें स्नान कर एक सुन्दर उत्तम वृक्ष की छाया में श्री लक्ष्मण समेत बैठ जाते हैं । फिर वहाँ पर सब देवता और मुनि आते हैं और स्तुति करके अपने अपने धाम को लौट जाते हैं ।

यहाँ पर गोस्वामीजी ने श्रीराम के दो चित्र खींचे——एक वह जो शंकरजी को दिखायी देता है और दूसरा वह जो देवर्षि नारद देखते हैं। शंकरजी की आँखों में प्रभु अत्यन्त प्रसन्नवदन बैठे हुए हैं और छोटे भाई लक्ष्मणजी से रसीली कथाएँ कह रहे हैं——

बैठे परम प्रसन्न कृपाला।
कहत अनुज सन कथा रसाला ।। ३/४०/४

पर ठीक उसी क्षण देवर्षि नारद श्री राम को किस प्रकार देखते हैं? गोस्वामीजी अगली ही पंक्ति में लिखते हैं——

बिरहवंत भगवंतहि देखी।
नारद मन भा सोच बिसेषी ।। ३/४०/५

——नारद ने भगवान् को विरहयुक्त देखा और इससे उनके मन में विशेष रूप से सोच हुआ। वे सोचने लगे——

मोर साप करि अंगीकारा।
सहत राम नाना दुख भारा ।। ३/४०/६

——मेरे ही शाप को स्वीकार करके श्रीरामजी नाना प्रकार के दुःख उठा रहे हैं।

अब यह क्या है? एक ही समय में एक व्यक्ति श्री राम को प्रसन्न और दूसरा व्यक्ति शोकार्त देखता है। जीव एक ही समय में एक साथ ऐसा चमत्कार नहीं कर सकता। वह या तो हँसता हुआ दिखेगा या फिर रोता हुआ। यह तो ईश्वर का ही चमत्कार है, जो एक को हँसता हुए दिखे और दूसरे को रोता हुआ। यही कर्म की दिव्यता है। ईश्वर के कर्मों में उनका अपना संस्कार, उनका अपना प्रारब्ध नहीं होता, वह तो जीव ही अपने संस्कारों के अनु-सार ईश्वर के कर्मों को देखता है। इसीलिए जीव मोहित होता है और ईश्वर के जन्म और कर्म की दिव्यता को

तत्त्व से नहीं जान पाता । तत्त्व से जानने के लिए उसे ईश्वर के जन्म और कर्म को अपनी आँखों से नहीं, अपितु ईश्वर की ही आँखों से देखना होगा ।

ईश्वर मानो बालक बनकर कौसल्या के गर्भ से अवतरित होते हैं । पर चुप हैं, रोते नहीं । यह विचित्र अवस्था है । बालक तो जन्म लेते ही रोता है, फिर राम रोते क्यों नहीं? माँ को अन्त में कहना पड़ा—"कीजै सिसुलीला" (१/१९१/छं/४)—"बेटा ! शिशु-लीला करो, जब शिशु जन्म लेता है तो रोता है, तुम तो चुप बने हुए हो, रोओ!" और तब—"मुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा" (१/१९१/छं/४)—"बालक बने हुए देवताओं के स्वामी भगवान् ने ठानकर रोना शुरू कर दिया ।" यह 'ठाना' शब्द ही भगवान् के कर्म की दिव्यता को सूचित करता है ।

भक्त ने यह देख भगवान् को उलाहना देना शुरू कर दिया; कहने लगा—"महाराज ! तुम ब्रह्म से बालक तो बने हो, पर तुम्हें अभिनय करना नहीं आता । जब बालक का स्वाँग भरा है, तब उसी के समान आचरण भी करना था । 'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा' (२/१२६/८)—जैसा स्वाँग भरे, वैसा ही नाचना भी चाहिए, पर तुम हो कि बालक बनकर भी ब्रह्म का बड़प्पन ओढ़े रहते हो ।"

"भक्त ! तुम नाहक ही मुझ पर दोषारोपण कर रहे हो ।"—भगवान ने प्रतिवाद किया ।

"इसको तुम नाहक कहते हो ? जब बालक का स्वाँग भरना तुमने स्वीकार कर ही लिया, तब रो क्यों नहीं रहे थे ? माँ को यह कहने की आवश्यकता क्यों पड़ गयी कि तुम रोओ ? यह तो कच्चा अभिनय है । तुम अच्छे अभिनेता नहीं हो !"

"भक्त ! तुमने विचारकर यह बात नहीं कही । मैंने न रोकर कोई बड़प्पन थोड़े ही दिखाया है, मैंने तो उसके द्वारा अपने स्वरूप को ही प्रकट किया है । देखो, मुझमें अपनी कोई कामना तो है नहीं, और जिसमें अपनी कामना नहीं होती, वह कोई क्रिया भी नहीं कर सकता । यह जो मैं बालक बना हूँ, अपनी इच्छा से नहीं, अपितु मैंने मनु-शतरूपा की इच्छा को स्वीकार किया, उनकी कामना से कामनावान् बना और इसीलिए उनकी कामना की पूर्ति हेतु उनके यहाँ बालक बनकर आया हूँ । माँ ने शतरूपा के रूप में चाहा था कि मैं उनका पुत्र बनकर उनकी सेवा लूँ, सो उनके गर्भ से बालक बनकर आ गया । फिर मैं देखने लगा कि माँ की और क्या कामना है, इसीलिए चुप पड़ा रहा । जब माँ ने रोने के लिए कहा, तो रोने लगा ।"

यही समझने की बात है । ईश्वर की अपनी कोई इच्छा नहीं । वे तो भक्त की कामना स्वीकार कर कामनावान्-से दिखायी देते हैं । भक्त की इच्छा की पूर्ति के लिए कर्म करते हुए-से दिखायी देते हैं । ठानकर के रोने का यही तात्पर्य है । नाटक में अभिनय ठानकर ही करना पड़ता है । जैसे एक विदूषक है । उसका कार्य है अपने अभिनय से सबको हँसाना । वह मंच पर जा रहा है कि एक तार उसके हाथ में आता है, जिसमें सूचना है कि 'तुम्हारा लड़का चल बसा' । अब यह समाचार पढ़ उसका हृदय शोक से फटने लगता है, पर मंच पर जाकर वह सबको जो हँसाएगा, तो ठानकर ही । इसी प्रकार ईश्वर की अपनी कोई कामना न होने के कारण नर-देह में वह जो कुछ भी करता दिखायी देता है, वह ठानकर ही करता है । न तो अपने हँसने में उसका कोई लगाव है, न अपने रोने में । दूसरों का सुख

लेकर वह हँसता-सा दिखायी देता है और दूसरों की आँखों के आँसू लेकर रोता-सा। यही उसके कर्म की दिव्यता है।

तभी तो जब ईश्वर को बालक बनकर रोते हुए देखा, भक्तों ने गोस्वामीजी से पूछा कि क्या हम भी ईश्वर का साथ देने के लिए रोएँ, तो वे बोले——नहीं नहीं, तुम्हें रोने की आवश्यकता नहीं, तुम तो खुशी मनाओ, गाओ—— 'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा' (१/१९१/छं ४)। गोस्वामीजी कहते हैं कि जो इस रोनेवाले ईश्वर के चरित्र का गान करते हैं, वे हरिपद पा लेते हैं और वे फिर संसाररूपी कूप में नहीं गिरते। इसका तात्पर्य यह कि जो समझ लेता है कि ईश्वर क्यों रो रहा है और ऐसा समझकर जो गाता है, खुशी मनाता है, वह ईश्वर को प्राप्त होता है तथा संसार के आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ता।

ठीक यही बात प्रस्तुत श्लोक में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं। यही ईश्वर के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म को स्वरूप से जानना है। ईश्वर रोते हैं, तो रोने दो। तुम खुशियाँ मनाओ। अब तक तुम रोते थे। पर आज ईश्वर ने अपनी करुणा से तुम्हारा आँसू अपनी आँखों में ले लिया है, इसलिए तुम्हें रोने की आवश्यकता नहीं। जो ईश्वर के बालक बनने का, उसके रोने का, उसके दुःख मनाने का कारण जान लेता है, वह ईश्वर के जन्म और कर्म की दिव्यता को तत्त्व से, यथार्थ अर्थों में, समझ लेता है। फलस्वरूप वह ईश्वर का हो जाता है, यह देह छोड़ने पर फिर से जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ता, वरन् ईश्वर को ही प्राप्त हो जाता है।

श्रीकृष्ण की यह बात सुनकर अर्जुन के मन में शंका

हुई कि क्या यह मात्र सैद्धान्तिक विवेचन है, अथवा सच-मुच ही इस प्रकार लोगों ने ईश्वर को पाया है ? सिद्धान्त में तो बहुत ऊँची-ऊँची बातें कही जा सकती हैं, पर आध्यात्मिकता की कसौटी सिद्धान्त नहीं, व्यवहार है । इसीलिए अर्जुन जानना चाहता है कि क्या ऐसे लोग हुए हैं, जिन्होंने भगवान् को इस प्रकार प्राप्त किया हो? श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी हैं, वे अर्जुन का मनोभाव भाँपकर उसकी शंका को दूर करने के लिए कहते हैं--

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्‌भावमागताः ।।१०।।

वीतरागभयक्रोधाः (आसक्ति, भय और क्रोध से रहित) मन्मयाः (मुझ में मन लगाये हुए) माम् (मुझे) उपाश्रिताः (आश्रय किये हुए) ज्ञानतपसा (ज्ञानरूप तप के द्वारा) पूताः (पवित्र हुए) बहवः (बहुत से लोग) मद्‌भावम् (मेरे भाव को, स्वरूप को) आगताः (प्राप्त हुए हैं) ।

"ज़ो आसक्ति, भय और क्रोध से छूटे हुए हैं, जिन्होंने अपना मन मुझमें लगा रखा है, जो मेरा ही आश्रय करके रहते हैं और जिन्होंने ज्ञानाग्नि की आँच में तपाकर अपने को पवित्र बना लिया है, ऐसे बहुत से लोग मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं अर्थात् मेरे स्वरूप में आकर मिल गये हैं ।"

श्रीकृष्ण कहते हैं--अर्जुन ! एक-दो नहीं, अपितु 'बहवः'--बहुत से लोग मुझे प्राप्त हो चुके हैं; एक-दो होते तो नाम भी गिना देता, पर इतने लोगों के नाम कहाँ से गिनाऊँ ? फिर अर्जुन के मन में सम्भवतः यह भी प्रश्न उठा होगा कि भगवान् के जन्म और कर्म की दिव्यता को तत्त्व से जानने की कसौटी क्या है ? यदि मैं मुँह से कहूँ कि मैंने उस दिव्यता को स्वरूप से जान लिया है, तो क्या इतने से ही मैं मरने के बाद भगवान् को प्राप्त हो जाऊँगा ? यदि ऐसा हो, तब तो सभी कहने लगेंगे

कि हमने भगवान् के जन्म-कर्म की दिव्यता को जान लिया है और इस प्रकार सभी भगवत्स्वरूपता प्राप्त करने के अधिकारी बन जाएँगे। पर भगवत्स्वरूपता को प्राप्त होना इतनी आसान बात नहीं है। इसीलिए अर्जुन के मन में 'तत्त्वतः' को लेकर जिज्ञासा उठती है, जिसका समाधान श्रीकृष्ण प्रस्तुत श्लोक में करते हैं। वे कहते हैं कि अर्जुन, मात्र मुँह से कह देने से कि मैंने भगवान् के जन्म-कर्म की दिव्यता को तत्त्व से जान लिया है, व्यक्ति भला मुझे कैसे पा सकता है ? यदि सचमुच उसने तत्त्वतः उसे जान लिया है, तो उसके जीवन में ये चार लक्षण प्रकट होंगे--(१) वह आसक्ति, भय और क्रोध को जीत लेगा, (२) उसका समूचा मन-प्राण मुझमें होगा, (३) वह एकमात्र मेरा ही आश्रय लेकर रहेगा और (४) वह ज्ञानरूप तप से अपने को पवित्र कर लेगा।

इन चार लक्षणों को तीन प्रकार से समझा जा सकता है। एक प्रकार यह है कि पूर्व के लक्षण को बाद के लक्षण की पात्रता या सोपान मानें। जैसे, हमने भगवान् के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म पर चिन्तन किया, उनकी अलौकिक लीलाओं का स्मरण करते रहे, इससे हमारी आसक्ति, भय और क्रोध की वृत्तियाँ शान्त हुईं, तो यह मानो पहला लक्षण हमारे जीवन में आया। इससे हमारा मन-प्राण भगवान् की ओर जाने लगा। विषय या व्यक्ति की आसक्ति हमें भगवान् से दूर कर देती है, हमारा मन अपनी आसक्ति के केन्द्र को छोड़ना नहीं चाहता, हरदम वहीं बना रहना चाहता है। उसी प्रकार जब तक जीवन में भय बना हुआ है, हमारा मन भय प्रदान करनेवाली वस्तु में

ही लगा रहता है और वह ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं हो पाता । क्रोध भी मन को व्यक्ति में बाँधकर रखता है । यदि हम क्रोध की मनोवैज्ञानिकता पर विचार करें, तो देखेंगे कि वह भी एक ऐसी वृत्ति है, जो हमें अपने आप में से उछालकर बाहर फेंकती है और इस प्रकार हमारे मन को ईश्वर में केन्द्रित नहीं होने देती । पर जो व्यक्ति आसक्ति, भय और क्रोध की वृत्तियों पर नियंत्रण पाने में समर्थ होता है, वह अपने मन को ईश्वर में लगा सकता है । और जैसे-जैसे वह अपने मन को ईश्वर में केन्द्रित करने का अभ्यास करेगा, ईश्वर के प्रति उसका समर्पण बढ़ेगा । उसे लगेगा कि ईश्वर ही उसके एकमात्र आश्रय हैं । संसार में उसने जितने आश्रय माने थे, वह अनुभव करेगा कि वे सारे आश्रय चलायमान थे । मनुष्य व्यक्ति का सहारा लेना चाहता है, पर व्यक्ति तो मर्त्य है—वह कल रहेगा भी कि नहीं, इसी का ठिकाना नहीं । मनुष्य धन का सहारा लेता है, पर लक्ष्मी तो चंचला है, वह भला किसकी होकर रही है ? मनुष्य यदि अपने यौवन का सहारा ले, तो वह भी तो ढल जाता है । इस प्रकार का चिन्तन व्यक्ति को एकमात्र ईश्वर में ही आश्रय खोजने की प्रेरणा देता रहता है । यह चिन्तन उसमें विवेक को जन्म देता है । विवेक फिर उसकी ज्ञानाग्नि को धधका देता है और उस ज्ञान की अग्नि में तपकर वह अपने भीतर पवित्रता के रूप में भगवत्स्वरूपता प्राप्त करने की पात्रता ले आता है ।

लक्षणों को समझने का दूसरा प्रकार यह है कि भगवान् के दिव्य जन्म-कर्म का चिन्तन करने से संसार के विषयों और व्यक्तियों से हमारा लगाव कम होगा

और इस प्रकार आसक्ति दूर होने से हमारा मन भगवान् में लगेगा, भय दूर होने से वे ही हमारे एकमात्र आश्रय बनेंगे और क्रोध दूर होने से हमें ज्ञानरूप तप का फल पवित्रता के रूप में प्राप्त होगा। इन सबके फलस्वरूप अन्त में हम भगवत्पद के अधिकारी बनेंगे। वास्तव में विषयों या व्यक्तियों के प्रति हमारी आसक्ति ही हमारे मन को भगवान् में बैठने नहीं देती। भय की भावना भगवदाश्रयता को खण्डित करती है। हम भयभीत किसलिए होते हैं ? इसीलिए न कि हमें ईश्वर के आश्रय में में आस्था नहीं ? हमें दूसरों का डर बना रहता है, क्योंकि ईश्वर की कृपा के संरक्षण पर हमारा पूरा-पूरा विश्वास नहीं हो पाता। जैसे-जैसे भय की वृत्ति कम होगी, हम अनुभव करेंगे कि ईश्वर ही हमारे एकमात्र शरण्य हैं। इसी प्रकार हम अपने को जितना भगवदाश्रित मानेंगे, हमारा भय उतना ही कम होगा। ये दोनों वृत्तियाँ अन्योन्याश्रित हैं। फिर क्रोध की वृत्ति ऐसी है कि वह हमारी ज्ञानाग्नि को बुझा देती है। वैसे क्रोध की भी उपमा आग से दी गयी है, वह व्यक्ति को तो जलाती है, पर ज्ञान की अग्नि के लिए जल का काम करती है। जहाँ तीव्र भिन्न-बोध है, चरम द्वैत का अनुभव है, वहीं क्रोध की वृत्ति पनपती है। अतएव क्रोधवृत्ति को जीतने का तात्पर्य है ज्ञान की प्रमुख बाधा को दूर करना। जब इस प्रकार भगवान् की दिव्य लीलाओं के चिन्तन से हम आसक्ति, भय और क्रोध की वृत्तियों को अंकुश में रखते हैं, तब हमें भगवन्मयता प्राप्त होती है, प्रभु ही हमारे एकमात्र आश्रय बनते हैं और ज्ञानरूप तप से अपने मन का शोधन कर हम भगवत्स्वरूपता को प्राप्त होते हैं।

लक्षणों को समझने का तीसरा प्रकार यह है कि इनके माध्यम से प्रभु के पास जाने के चारों प्रमख मार्गों का निर्वचन हो गया। ये चार रास्ते कर्मयोग, भक्तियोग, दैन्ययोग और ज्ञानयोग के नाम से जाने जाते हैं। 'वीत-राग-भय-क्रोध' यह कर्म का रास्ता है। हम कर्मयोग के द्वारा अपने भीतर की आसक्ति का तथा भय और क्रोध की वृत्तियों का ही नाश करना चाहते हैं।

'मन्मया:'—यह भक्ति का लक्ष्य है। भक्तियोग से भगवन्मयता सधती है। भक्ति का तात्पर्य है भजन—'भजनं भक्ति:'। 'किं नाम भजनम् ? भजनं नाम रसनम्।'—'भजन किसे कहते हैं ? भजन कहते हैं रस लेने को। जैसे गाय पहले चारा खा लेती है और फिर बैठकर उस खाये हुए को मुँह में लाकर जुगाली करते हुए उसका रस लेती है, वैसे ही भगवान् की जो लीलाएँ हमने सुनी हैं, उनकी महिमा आदि का जो श्रवण किया है, उस सबकी स्मृति को बार-बार मन में लाकर उसका रसास्वादन करना भजन कहलाता है। यह भजन ही भक्ति है। स्पष्ट है कि इस भक्ति से भगवान् में तन्मयता उपजती और पुष्ट होती है।

'मामुपाश्रिता':—यह दैन्ययोग का साध्य है। दीन भक्त ईश्वर को छोड़ और कोई आश्रय नहीं जानता। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने ग्रन्थों में इस दैन्यभक्ति पर सर्वाधिक जोर दिया है। वे 'रामचरित-मानस' में एक सुन्दर सरोवर की कल्पना करते हैं, जो रामसुयशरूपी जल से भरा हुआ है और जिसके चार घाट हैं। अलग-अलग घाट अलग-अलग उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। सरोवर के पास व्यक्ति भिन्न-भिन्न कामना

लेकर ज़ाते हैं। जैसे एक व्यक्ति अपने को बड़ा गन्दा अनुभव कर रहा है, उसके कपड़े भी गन्दे हैं। वह अपनी और अपने कपड़ों की गन्दगी दूर करने सरोवर के पास जाता है। वह जाकर देखता है कि सरोवर के जल में स्वच्छता है या नहीं। यदि जल स्वच्छ न हो, तो उसे नहाने या कपड़े धोने की इच्छा नहीं होगी। दूसरा व्यक्ति प्यासा है, वह अपनी प्यास बुझाने सरोवर के पास आता है। वह भी देखता है कि जल स्वच्छ है या नहीं। न हो तो पिएगा ही नहीं। पर जल यदि स्वच्छ भी हो, तो वह यह और देखेगा कि जल शीतल है या नहीं। जल यदि तप्त हो, तो प्यास नहीं बुझेगी। पर यदि शीतल हो तो वह पुनः एक बात की खोज करेगा कि जल मधुर है या नहीं। यदि जल शीतल हो पर खारा हो, तो भी उसकी पिपासा नहीं मिटेगी। अतः प्यासा व्यक्ति जल में स्वच्छता के साथ-साथ शीतलता और मधुरता देखेगा। अब एक तीसरा व्यक्ति है, जो तैरने और गोता लगाने के लिए सरोवर के पास जाता है। वह भी जल की स्वच्छता पहले चाहेगा, पर इसके साथ ही यह भी देखेगा कि जल में गहराई है या नहीं। यदि जल गहरा न हो, तो वह तैरने का आनन्द नहीं ले पाएगा। ठीक इसी प्रकार श्री राम के सुयशरूपी जल से भरे सरोवर के पास भी तीन प्रकार के व्यक्ति जाते हैं। एक वह है, जो स्वच्छता चाहता है। गोस्वामीजी इसे कर्म का घाट कहते हैं। वे लिखते हैं—

> लीला सगुन जो कहहिं बखानी।
> सोइ स्वच्छता करइ मलहानी ॥१/३५/५

—'सगुण लीला का जो विस्तार से वर्णन करते हैं, वही

रामसुयशरूपी जल की निर्मलता है, जो मल का नाश करती है।'

दूसरा वह है, जो स्वच्छता के साथ शीतलता और मधुरता भी चाहता है। गोस्वामीजी की दृष्टि में यह भक्ति का घाट है--

प्रेम भगति जो बरनि न जाई।
सोइ मधुरता सुसीतलताई।। १/३५/६

--'जिस प्रेमाभक्ति का वर्णन नहीं किया जा सकता, वही इस जल की मधुरता और सुन्दर शीतलता है।'

तीसरा वह है, जो जल में गहराई देखता है। गोस्वामीजी इसे ज्ञानी मानते हैं, कहते हैं--

रघुपति महिमा अगुन अबाधा।
बरनब सोइ बर वारि अगाधा।।

--'श्री राम की निर्गुण और निर्बाध महिमा का जो वर्णन किया जायगा, वही इस सुन्दर जल की अथाह गहराई है।'

इस प्रकार गोस्वामीजी तीन घाटों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कर्म का घाट याज्ञवल्क्यजी का है, भक्तिघाट के प्रवक्ता काकभुशुण्डि हैं और ज्ञानघाट के, भगवान् शंकर।

"आपने तो चार घाटों की बात की है, गोस्वामीजी? आपने ही कहा है—'तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि' (१/३६)। तीन घाट तो कर्म, भक्ति और ज्ञान के हो गये; चौथा घाट किसका है?"--जिज्ञासु ने पूछा।

गोस्वामीजी बोले, "भाई, यह चौथा घाट दैन्य का है यह मेरा घाट है।"

"क्या मतलब ? आपको अपने लिए चौथे घाट की आवश्यकता पड़ गयी ? कर्म, भक्ति और ज्ञान—ये तो तीन राजमार्ग माने जाते हैं। आप इनमें से किसी भी घाट पर जा सकते थे। फिर एक नये घाट के चक्कर में कैसे पड़ गये ?"

"बात यह है, मैं तो तीनों घाटों में गया, पर एक का भी सदस्य नहीं बन सका। कर्म के घाट पर गया, तो देखा बड़े-बड़े कर्मकाण्डी यज्ञानुष्ठानों में लगे हुए हैं। मेरे हाथ में काठ की माला को देख एक ने उपेक्षा से पूछा—क्या चाहते हो ? मैंने कहा—इस घाट की सदस्यता चाहता हूँ। बस, क्या था, वे चिल्ला पड़े—भाग यहाँ से ! काठ की माला जपनेवाला कर्म का रहस्य समझेगा ! अरे, कोई है, इस कटमलिये को भगाओ !"

"फिर ?"

"फिर क्या, मैं ज्ञानघाट में गया। वहाँ बड़े-बड़े ज्ञानी लोग जुटे थे। अवच्छिन्न-अवच्छेद, घट-पट कर रहे थे। मेरी तो कुछ भी समझ में नहीं आया। मैं तो भगवान् की लीला का स्मरण कर रहा था, इसलिए आँखें छल-छलायी हुई थीं। एक ने जब पूछा—क्यों खड़े हो ? तो मैंने कहा—यहाँ का सदस्य बनना चाहता हूँ। उसने सिर से पैर तक मुझे देखा और कहा—होश में तो हो ? कहाँ आये हो ? आँसू बहानेवाला ज्ञान का मर्म समझेगा ! चलो, भागो यहाँ से ज्ञानविहीन कहीं के !"

"तब तो आपको भक्तिघाट पर चले जाना था, गोस्वामीजी ! वही आपके लिए उपयुक्त होता। आपके हाथ की माला और आँखों का आँसू वहीं शोभा देता।"

"वहाँ भी तो गया था, भाई ?"—गोस्वामीजी बोले।

"तो क्या वहाँ से भी आपको भगा दिया गया ?"

"नहीं, वहाँ भगाया तो नहीं। जब वहाँ गया, तो एक से बढ़कर एक भक्त मैंने देखे, जो भगवान् के विरह में पछाड़ खा-खाकर रो रहे थे। उन्हें देखकर मुझे लगा कि मैं तो भक्ति में इनके पासंग में भी नहीं बैठता। मैं स्वयं संकुचित हो गया। उनसे कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी और मैं लौट आया।"

"तब तो भगवान् आपको नहीं मिले होंगे ? वे तो इन्हीं तीन रास्तों से मिलते हैं ?"

"नहीं, भाई ! मिले। इसीलिए तो मैंने चौथा रास्ता बनाया। इस चौथे रास्ते से मुझे भगवान् मिले। यह दीनता का रास्ता था--

करमठ कठमलिया कहैं ग्यानी ग्यानबिहीन।
तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो राम दुआरें दीन।।

(दोहावली, ९९)

--मैं दीन होकर प्रभु के द्वार पर जाकर पड़ गया। उन्होंने मुझ पर कृपा की।"

"अच्छा ? पर यह तो बताइए, गोस्वामीजी, जैसे कर्मी ने श्री राम के सुयशरूपी जल से स्वच्छता ली, भक्त ने शीतलता और मधुरता ली और ज्ञानी ने गहराई ली, उसी प्रकार आपने दैन्यघाट पर बैठकर क्या लिया ?"

गोस्वामीजी बोले, "मैंने उस जल से लिया नहीं, बल्कि उसे दिया।"

"दिया ?"—जिज्ञासु अत्यन्त आश्चर्य से गड़ गया, "आप भला राम-सुयशरूपी जल को क्या दे सकते हैं ?"

"ऐसा है, मैंने प्रभु से कहा--प्रभु, आपके जल में वैसे तो बहुत से गुण हैं, वह स्वच्छ है, शीतल है, मधुर है,

पर महाराज, एक बहुत बड़ा दोष है, वह यह कि वह भारी है, जल्दी पचता नहीं है। तब प्रभु मुझसे बोले—अब इसके लिए क्या उपाय करें, तुलसी ? मैंने कहा—प्रभु, आप मेरे जीवन का हल्कापन ले लीजिए और अपने जल में मिला लीजिए, इससे आपका सुयशरूपी जल हल्का होकर सुपाच्य हो जायगा और मेरा हल्कापन भी सार्थक हो जायगा !"

अब चरित्र का हल्कापन तो दोष है, पर जल का हल्कापन गुण। गोस्वामीजी कहते हैं कि मेरे चरित्र में तो हल्कापन ही हल्कापन भरा है, इसलिए मैंने अपना सारा हल्कापन, सारी त्रुटियाँ भगवान् को दे दीं। यही दैन्य का घाट है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

आरति बिनय दीनता मोरी।
लघुता ललित सुबारि न थोरी ॥ १/४२/१

—'मेरा आर्तभाव, विनय और दीनता इस सुन्दर और निर्मल जल का अत्यन्त हल्कापन है।'

जिज्ञासु ने पुनः पूछा—"अच्छा, गोस्वामीजी, यह तो बताइए, आपके इस दैन्यघाट की विशेषता क्या है ? एक तो आपने बता ही दी कि अपनी सब कमियाँ भगवान् को सौंप दी जाती हैं।"

गोस्वामीजी बोले—"मान लो, तुम सवारी में बैठकर कहीं जा रहे हो और तुम्हारे कानों में आवाज आयी—बाबूजी, तीन दिन का भूखा हूँ, मुझे पैसा नहीं चाहिए, खाना खिला दीजिए। तो तुम क्या करोगे ?"

"वाहन को रोकूँगा और माँगनेवाले से कहूँगा—ले, यहाँ आ जा और यह खाने की चीज ले ले।"

"अगर वह कहे कि बाबूजी, आँखें तो हैं नहीं कि देख

सकूँ। तब क्या करोगे ?"

"तब कहूँगा, कान से तो सुन रहा है, आवाज सुनकर मेरे पास चला आ।"

"अगर वह कहे कि बाबूजी, देख लो, मेरी टाँगें भी नहीं हैं, कैसे आप तक चलकर जाऊँ ? तब क्या करोगे ?"

"तब मैं वाहन से उतरकर उसके पास जाऊँगा और कहूँगा—ले, हाथ बढ़ा।"

"अगर वह शरीर को हिलाकर कन्धे पर की चादर गिरा दे और कहे कि बाबूजी देखो, मेरे तो हाथ भी नहीं हैं, तब मैं कैसे लूँ, बाबूजी, दया करो, आप ही खिला दो। तब तुम क्या करोगे ?"

"तब तो, गोस्वामीजी, मैं उसे अपने हाथ से ही खिला दूँगा।"

"बस ! यही दैन्यघाट की विशेषता है। मैंने भगवान् को पुकारा, वे आ गये, बोले—लो, तुलसी, देखो, मैं आ गया। मैंने कहा—महाराज, आपने ज्ञान के नेत्र तो दिये नहीं जो आपको देख सकूँ, पर मैं तो आपको पाना चाहता हूँ। प्रभु ने कहा—ठीक है, पाना चाहते हो तो बस इतना-सा चलकर मेरे पास आ जाओ। मैंने कहा—महाराज, आपने कर्म के पैर तो दिये नहीं, फिर कैसे चलकर आप तक जाऊँ ? आप ही दया करके मेरे पास आइए, जिससे आपका स्पर्श प्राप्त हो सके। और प्रभु पास आ गये, मुझसे बोले—लो, तुलसी, तुम्हारे पास आ गया हूँ, हाथ बढ़ाकर मेरा स्पर्श कर लो। मैंने कहा—प्रभु, आपने उपासना के हाथ तो मुझे दिये नहीं, फिर मैं आपका स्पर्श कैसे करूँ ? तब पसीजकर भगवान् ने मुझे अपनी गोद में उठा लिया। तो भाई जिज्ञासुजी, यही दैन्ययोग की विशेषता है, समझे?"

यही भगवदुपाश्रयता है, जहाँ भक्त पूरी तरह भगवान् के आश्रित होकर रहता है। जैसे एक छोटा शिशु सब बातों के लिए अपनी माता पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार यह दीन भक्त प्रभु को छोड़कर कोई दूसरा आश्रय नहीं जानता। इससे हमें यह गलतफहमी न हो कि दीन भक्त आलसी और अकर्मण्य होता है। वास्तव में भगवान् पर ही आश्रित रहने का जो भाव है, वह भक्त के पुरुषार्थ की परीक्षा है। यहाँ उसका पुरुषार्थ प्रबल विश्वास के रूप में प्रकट होता है। ससार में किसी व्यक्ति या वस्तु की अपेक्षा न करते हुए चातक की भाँति केवल भगवान् की कृपा की स्वाति-बूँद पर ही निर्भर रहना--यह अदम्य पौरुष से ही सम्भव होता है।

श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं--"ईश्वर-निर्भरता कसी होती है, जानते हो ? जैसी कड़ी मेहनत करने के बाद तकिए से टेककर बैठे हुए आराम से हुक्का पीना।" अर्थात् प्रभु के प्रति विश्वास लाने की साधना कर ली, फिर बाद में बेफिक्री का भाव--जो करना हो ईश्वर ही करेंगे यह भाव।

वे पुनः उपदेश देते हैं--"संसार में आँधी में उड़नेवाली जूठी पत्तल की तरह रहो। जूठी पत्तल आँधी के भरोसे रहती है, आँधी उसे जहाँ उड़ा ले जाती है, वहीं जाती है--कभी किसी घर के भीतर तो कभी कूड़े-कचरे में। इसी तरह, प्रभु ने तुम्हें संसार में रख छोड़ा है, तो अभी संसार में रहो; फिर जब वे तुम्हें इससे अच्छी जगह पर ले जाएँगे, तब उनके भरोसे वहीं रहना। उन पर निर्भर होकर निर्लिप्त रूप से पड़े रहना।" यही 'मामुपाश्रिता:'--भगवदाश्रयता का तात्पर्य है।

'ज्ञानतपसा पूताः' से ज्ञानयोग ध्वनित होता है। इसका साधक ज्ञानरूप तप से अपनी शुद्धि करता है और अपनी भगवत्स्वरूपता की अनुभूति की योग्यता अर्जित करता है।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के मन के विभिन्न संशयों का नाश करते हुए अपनी प्राप्ति का पथ प्रशस्त करते हैं। अब यह साधक पर है कि वह कर्म के रास्ते से जाता है या भक्ति के, दैन्य का मार्ग अपनाता है अथवा ज्ञान का। यदि वह ईश्वर के जन्म और कर्म की दिव्यता को तत्त्व से जान लता है, तो वह चाहे जिस रास्ते से जाए, प्रभु के स्वरूप में अन्ततोगत्वा मिल ही जाएगा। यही अवतार-योग की सार्थकता है।

○

प्रथम अवस्था में निर्जन स्थान में जाकर एकाग्र चित्त से ईश्वर-चिन्तन करना चाहिए, नहीं तो मन में नाना विक्षेप आते हैं। दूध और पानी को यदि एकत्र कर दो, तो दूध पानी में मिल जायगा; परन्तु यदि उसी दूध का निर्जन में मक्खन बना लो, तो वह पानी में उतराता रहेगा—मिलेगा नहीं। इसी तरह साधना-अभ्यास के द्वारा चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर लेने पर मनुष्य चाहे जिस परिस्थिति में रहे, उसका मन उससे ऊपर उठकर ईश्वर में ही लीन रहता है।

—श्रीरामकृष्ण

रसद्दार मथुर (५)

मूल बंगला लेखक–*नित्यरंजन चटर्जी*, कलकत्ता

अनुवादक–*श्यामसुन्दर चटर्जी*, कवर्धा (म.प्र.)

(गतांक से आगे)

"वर्णमाला में सभी वर्ण एक-एक हैं, किन्तु 'श' तीन है—श, ष, स। जितना हो सके सहन करो। संसार में चरित्री की भाँति ही सहनशीलता चाहिए। यही शिक्षा देने के लिए ही तो वर्णमाला में तीन 'श' रखे गये हैं। जो सहेगा, वही रहेगा।"

एक दिन बकुलतला के घाट में एक नाव आकर लगी। उस नौका से एक अपूर्व सुन्दरी भैरवी को उतरती हुई देख गदाधर ने हृदय को बुलाकर कहा, "जा तो, हृदू। उसे बुलाकर मेरे पास ले आ। मुझे ही वह ढूँढ़ रही है। माँ ने मुझे सब बता दिया है।"

हृदय हतप्रभ हो गया। यह माया की कैसी मति-गति है!

भैरवी चाँदनी में बैठी हुई मन ही मन जाने क्या विचार कर रही थी।

"मामा तुमको बुला रहे हैं," हृदय ने कहा। "चलो।"— एक ही बार के कहने पर वह हृदय के पीछे-पीछे हो चली।

गदाधर के सामने आकर भैरवी फफक-फफककर रो पड़ी। "बाबा, तुम यहाँ बैठे हो? मैं तुम्हें देश-देशान्तर में ढूँढती फिर रही हूँ। केवल इतना ही मालूम हुआ था कि तुम गंगा-तट पर हो। आज भैरव ने मेरी कामना पूरी कर दी। पूर्व-बंग में दो व्यक्तियों से भेंट हो चुकी है, एक तुम्हीं बचे थे। वह भी आज हो गया।"

गदाधर के आनन्द की सीमा न रही। जैसा छोटा शिशु माँ के सान्निध्य में आनन्दित होता है, वैसा ही

गदाधर भैरवी को प्राप्त कर प्रफुल्लित हो उठे। सुख-दुःख की, साधना के गोपनीय रहस्यों की जाने कितनी ही बातें उनके बीच होती हैं।

"माँ को व्याकुल होकर पुकारने का क्या यही परिणाम है? सारा शरीर जला जा रहा है। निद्रा नहीं है। अन्त में क्या पागल हो जाऊँगा।"

"नहीं, बाबा! यह तुम्हारा महाभाव है। यह भाव राधारानी को हुआ था। चैतन्यदेव को भी हुआ था।"—सान्त्वना देती हुई भैरवी बोली।

भैरवी रघुवीर-शिला को अपने कण्ठ से सदैव लगाये रखती है। एक दिन के लिए भी उसने शिला को अपने से अलग नहीं किया है।

एक दिन जब वह रघुवीर को भोग निवेदन कर रही थी, उसी समय गदाधर वहाँ भावावेश में आ उपस्थित हुए और रघुवीर को निवेदित भोग उन्होंने स्वयं ग्रहण कर लिया।

भैरवी ने आँख खोलकर देखा तो अवाक् रह गयी। मानो उसे दिव्य दृष्टि मिल गयी। उसके सारे देह-मन में सिहरन होने लगी। उसने देखा कि उसके इष्टदेव उसके समक्ष मूर्त हो उठे हैं और उसका निवेदित नैवेद्य ग्रहण कर रहे हैं।

"धन्य है मेरा जीवन। बहुत पुण्यों के फल से आज इष्ट-दर्शन हुआ। अब यह शिला लेकर घूमने का क्या प्रयोजन है?" यह कह उसने रघुवीर-शिला को अन्तिम बार प्रणाम किया और भागीरथी के स्रोत में प्रवाहित कर दिया।

गदाधर का असहनीय गात्र-दाह किसी भी तरह कम

नहीं हो रहा है। वे गीले गमछे से सिर को लपेटकर सारे अंग को गंगा में डुबोकर रखते हैं। किन्तु किसी भी तरह जलन कम नहीं होती।

"यह क्या हो गया, माँ ? क्या यह दाह कम नहीं होगा ?"—कण्ठ में व्याकुलता लिये गदाधर ने भैरवी से पूछा।

"क्यों कम नहीं होगा, बाबा। शास्त्र में ही तो इसकी व्यवस्था है। देह पर चन्दन का लेप लगाकर कण्ठ में सुगन्धित पुष्प की माला धारण करो। सब दाह दूर हो जायगा।"—भैरवी आश्वासन देती है।

मथुरामोहन यह सुनकर हँस देते हैं। व्यंग्य के स्वर में कहते हैं, इससे क्या यह रोग दूर हो जायगा ? दवा क्या इतनी सहज है ?"

किन्तु सचमुच में इससे रोग का शमन हुआ। सारी जलन, वेदना समाप्त हो गयी। गदाधर की देह शीतल हो गयी। मथुरामोहन तो यह देख अवाक् हो गये। किन्तु आगे चलकर उन्हें तो और भी अधिक अवाक् होना है।

"गदाधर सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। ये अवतार हैं। नित्यानन्द की देह में चैतन्य का आविर्भाव हुआ है।"—भैरवी घोषणा कर देती है।

नरलीला में अवतार ठीक मनुष्य-जैसे ही होते हैं—वैसा ही रोग, वैसा ही शोक। सब कुछ मनुष्य-जैसा ही होता है। साधारण मनुष्य अवतार को पहचानने में असमर्थ होता है। श्री राम जब सीता के शोक में विह्वल हो गये, तब उनके सारे लक्षण तो साधारण मनुष्य-जैसे ही थे। बाहर से अवतार को पहचानना अत्यन्त कठिन होता है।

गदाधर ने यह सब सुनकर मथुरामोहन से पूछा,

"क्यों जी, मैं क्या अवतार हूँ ?"

"तुमसे यह बात किसने कही है ?"

"अरे, उसी बाम्हनी (भैरवी) ने।"

"शास्त्र में तो दस अवतारों की ही बात कही गयी है--मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। इनके सिवाय और कोई अवतार की बात शास्त्र में नहीं है।"--मथुरामोहन भैरवी के कथन को मिथ्या प्रमाणित करना चाहते हैं।

"मुझे क्या मालूम ? तुम्हें वह बाम्हनी ही समझाएगी।" निर्लिप्त भाव से गदाधर ने कहा।

"भागवत में बाईस अवतारों का उल्लेख है। पण्डितों की सभा बुलाओ। उनके समक्ष प्रमाणित कर दिखा दूँगी,"--भैरवी ने घोषणा की।

फिर भी मन में अविश्वास रह ही गया। उस दिन कालीमन्दिर के सामने भैरवी के साथ मथुरामोहन की भेंट हो गयी।

"क्यों जी, भैरवी ! अकेले-अकेले ही घूम-फिर रही हो। तुम्हारे भैरव कहाँ गये ?"--मथुरामोहन ने व्यंग्य किया।

भैरवी चौंककर खड़ी हो गयी।

"वे जो माँ के पैरों-तले सोये हुए हैं, वे ही तो मेरे भैरव हैं।"

"अरे, वह भैरव तो सचल नहीं है। तुम्हारा सचल भैरव कहाँ है ?"--मथुरामोहन के ओठों पर व्यंग्योक्ति की मुसकराहट है।

"अचल को यदि सचल न कर सकी, तो भैरवी क्यों हुई हूँ ?"--आत्म-प्रत्यय का स्वर कण्ठ में लिये

भैरवी बोली।

मथुरामोहन निस्तेज हो गये। एक शब्द भी उनके मुँह से नहीं निकला।

गदाधर में एक और नवीन रोग दृष्टिगोचर हुआ। अमिट क्षुधा। आहार जितना भी करो, क्षुधा की निवृत्ति नहीं होती।

"अब क्या करूँ, बताओ तो? उस समय तुम्हारे ही विधान से अच्छा हुआ था," गदाधर के कण्ठ में व्याकुलता का स्वर है।

"डरते क्यों हो, बाबा? मैं सब ठीक कर देती हूँ"——भैरवी ने अभय दिया।

"एक कक्ष में बहुत-से आहार की व्यवस्था कर गदाधर को बैठा दो। क्षुधा तृप्त हो जाएगी। उनका यह रोग दूर हो जाएगा"——मथुरामोहन से भैरवी बोली।

मथुरामोहन ने इस बार थोड़ी भी आपत्ति नहीं की। भैरवी के निर्देशानुसार सब व्यवस्था कर दी। सचमुच ही गदाधर के रोग का शमन हो गया।

भैरवी गदाधर को अवतार प्रमाणित करेगी। मथुरामोहन को पण्डितों की एक सभा बुलानी पड़ी। वैष्णवचरण निमन्त्रित हुए। गौरीकान्त को भी आमन्त्रण दिया गया।

गदाधर हतप्रभ हो गये। "मैं एक निरक्षर भट्टाचार्य, मुझे लेकर यह सब क्या खेल है? तेरी लीला तो कुछ भी समझ नहीं पा रहा हूँ, माँ!"

दलबल सहित वैष्णवचरण पधारे। गदाधर भी सभा में आकर बैठे। सरल शिशु की भाँति उनका आचरण है। कभी स्वयं ही हँसते हैं, कभी अपलक इधर-उधर

देखते हैं, तो कभी बटुए से मसाला निकालकर मुँह में डाल लेते हैं ।

भैरवी शास्त्रों को सामने रखकर प्रमाण दे रही है। वैष्णवचरण इससे सम्बन्धित प्रश्नों को गदाधर से पूछकर मिलान कर ले रहे हैं। किन्तु उत्तर सुनकर निर्वाक् हो जाते हैं। सभा का कार्य समाप्त हुआ।

"भैरवी ने जो कुछ भी कहा, वह सब गदाधर में हूबहू मिल रहा है। गदाधर अवतार हैं इसे स्वीकार करने में मुझे तनिक भी द्विधा नहीं है।"––वैष्णवचरण ने अपना मत व्यक्त किया।

मथुरामोहन के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। आज गदाधर उनके समक्ष मानो एक नवीन रूप में प्रकाशित हुए हैं। कुछ दिन बीत गये।

गौरीकान्त तर्कभूषण दक्षिणेश्वर पहुँचे। अत्यन्त शक्तिशाली तान्त्रिक हैं वे। जैसे विद्वान्, वैसे ही साधक। तर्क में तो उनके सामने कोई टिक ही नहीं सकता। बायें हाथ पर एक मन लकड़ी रखकर यज्ञ करते हैं। लकड़ी जलती रहती है, किन्तु अग्नि उनके हाथ का स्पर्श तक नहीं करती।

मन्दिर में प्रवेश कर उन्होंने भीषण हुंकार किया–– ऐसी गर्जना मानो वज्रपात हो गया हो। प्रतिपक्ष के मन में भय उत्पन्न करने के लिए वे ऐसा गर्जन करते थे। उनके हुंकार के शब्द थे––"हा, रे, रे, रे, निरालम्बो लम्बोदर-जननि कं यामि शरणम्।"

गदाधर भाव-विभोर होकर अपने कक्ष में बैठे थे। हुंकार सुनकर चौंक उठे। किन्तु क्षणमात्र के लिए ही। उनका अन्तर्मन कह उठा––तू और भी जोर से चीत्कार

कर, उसकी शक्ति का हरण कर ले ।

गदाधर भी हुंकार कर उठे । अपनी आवाज को सुन-कर वे स्वयं चौंक गये । उनका कण्ठ-स्वर इतना प्रबल हो सकता है, इसकी धारणा ही उन्हें नहीं थी । लोग दौड़कर आ गये । गौरीकान्त भी आश्चर्यचकित हो गये ।

"कौन है यह शक्तिधर ? क्षणमात्र में ही इसने मेरी शक्ति को छीन लिया !" उन्होंने चुपचाप आत्मसमर्पण कर दिया ।

फिर भी मथुरामोहन के मन में शंका रह ही गयी । उन्होंने पुनः पण्डितों की एक सभा बुलायी । अनेक विद्वानों का समागम हुआ । वैष्णवचरण उपस्थित हुए । उनके साथ तर्क करने के लिए गौरीकान्त भी पहुँचे ।

गदाधर माँ को प्रणाम कर मन्दिर से निकले हैं । उन्हें देखकर वैष्णवचरण उनके चरणों में लौट गये । गदाधर समाधिस्थ हो जाते हैं । एक आनन्द की धारा वैष्णवचरण के अन्तर में प्रवाहित हो गयी ।

"मैं वैष्णवचरण के साथ तर्क करने आया था । उसका अब कोई प्रयोजन नहीं रहा । वैष्णवचरण को नरदेहरूपी नारायण का स्पर्श प्राप्त हो गया है, उनकी अहैतुकी कृपा मिल गयी है । अब मेरे-जैसे सामान्य व्यक्ति की इतनी शक्ति कहाँ कि उसके समक्ष खड़ा हो सके ?"

गौरीकान्त लौट गये । उनके अहंकार का अभिमान चूर्ण हुआ । मथुरामोहन का अन्तःकरण गर्व से भर उठा ।

(क्रमशः)

○

विवेकानन्द का सन्देश

प्रेम सिंह

(रामकृष्ण मिशन की मारीशस-शाखा में विवेकानन्द-जयन्ती के उपलक्ष में मारीशस में भारत के उच्चायुक्त श्री प्रेमसिंह ने जो भाषण दिया था, वही प्रस्तुत लेख के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है ।—स०)

बीसवीं शताब्दी को जिन महापुरुषों ने अपनी जीवन-ज्योति से प्रकाशित किया है, उनमें स्वामी विवेकानन्द का नाम अग्रगण्य है । स्वामीजी ऐसे समय में भारत में पैदा हुए थे, जब पूरा देश सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राज-नैतिक दृष्टि से जागृत हो रहा था; जनमानस आलस्य, प्रमाद और तन्द्रा को त्यागकर चेतना की संजीवनी लेकर उठ खड़ा हो रहा था ।

विवेकानन्द एक प्रभुसमर्पित संन्यासी ही नहीं थे, वे अपने देश और समाज के प्रति अनन्य सेवा-भाव रखने-वाले साधक थे । भारत-माँ उनके लिए काली-माँ से कम नहीं थी । देश का हर गरीब-दुखी आदमी उनके लिए नारायण से कम नहीं था । इसीलिए विवेकानन्द कहा करते थे कि जब तक मेरे देश का एक कुत्ता भी भूखा रहता है, तब तक मुझे शान्ति नहीं है । उन्होंने यह भी घोषणा की थी कि जब तक हर एक मनुष्य पीड़ा और दुःख से मुक्ति नहीं पा लेता है, तब तक किसी एक संन्यासी की व्यक्तिगत मुक्ति व्यर्थ है । बुद्ध ने भी निर्वाण को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न किया था, लेकिन वे लोगों को बौद्ध बनाकर ऐसा कर रहे थे । विवेकानन्द ने भगवान् बुद्ध की उसी मानवीय करुणा को स्वीकार किया था, लेकिन वे लोगों को संन्यासी बनाकर मुक्ति नहीं देना चाहते थे । वे चाहते थे कि भारत में संन्यासियों

का ऐसा तेजस्वी समूह खड़ा हो, जो अपने तपोबल से जन-जन को दु:ख-दैन्य से दूर कर सके। रामकृष्ण मिशन की स्थापना के पीछे उनका यही लक्ष्य था। वे संन्यास को व्यक्तिगत साधना नहीं, विराट् मानवता की सेवा का साधन बनाना चाहते थे। उनकी इसी दूरदृष्टि का सुफल है कि आज विश्व भर में आध्यात्मिक चेतना से सम्पन्न रामकृष्ण मिशन के संन्यासीगण सेवा-कार्य में लगे हुए हैं।

स्वामी विवेकानन्द का निश्चित मत था कि सिद्धान्त चाहे कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, उनको माननेवाले जब तक श्रेप्ठ और सबल नहीं होंगे, तब तक संसार सिद्धान्तों को कोई महत्त्व नहीं देगा। इसीलिए स्वामीजी कहा करते थे कि गीता पढ़ने से अच्छा है फुटबाल खेलना। कोई यह न सोचे कि ऐसा कहकर स्वामीजी गीता का अपमान कर रहे थे, स्वामीजी यह बताना चाहते थे कि पहले शरीर को स्वस्थ करो, फिर गीता पढ़ो। बीमार शरीर से गीता का पाठ अर्थहीन है। भगवान् कृष्ण ने गीता का उपदेश युद्धभूमि में दिया था, अर्जुन को कर्तव्य का बोध कराया था। इसीलिए गीता को समझने के लिए स्वस्थ मन और शरीर बहुत ही आवश्यक है। स्वामीजी का बहुत प्रसिद्ध वाक्य है—"आज चाहिए वज्र-जैसी मांसपेशियाँ और इस्पात-जैसे स्नायु, जिनका मुकाबला दुनिया की कोई शक्ति नहीं कर सके।"

किन्तु जब तक मनुष्य के मन में निर्भयता नहीं आती है, तब तक मन और शरीर का स्वस्थ होना कोई मायने नहीं रखता है। इसीलिए स्वामीजी उपनिषदों के इस सनातन सत्य की बार-बार घोषणा करते थे कि निडर बनो। आत्म-

विश्वास के साथ जियो ।

स्वामीजी का कहना था कि यदि तुम अपने को कमजोर और कायर समझोगे, तो कभी भी सबल और निडर नहीं बन सकोगे । शास्त्रों में कहा गया है--

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि ।
किंवदन्तीति सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत् ।।

--'जो अपने को मुक्त समझता है, वह मुक्त होता है और जो अपने को दास समझता है, वह दास ही होता है । यह कहावत सत्य है कि जो जैसा सोचता है, वैसा ही बन जाता है ।'

इसीलिए स्वामीजी कहा करते थे कि अपने को सभी भय से दूर रखो । अपने हृदय में विश्वास उत्पन्न करो । जब तक आत्मविश्वास पैदा नहीं होगा, तब तक आत्म-बल नहीं प्राप्त हो सकेगा । भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास के लिए आत्मविश्वास जरूरी है ।

स्वामी विवेकानन्द महान् देशभक्त थे । वे अपनी आध्यात्मिक उन्नति से अधिक अपनी मातृभूमि की उन्नति के लिए चिन्तित रहा करते थे । वे कहा करते थे कि भारत को भाषण और तत्त्वज्ञान की नहीं, कार्य की जरूरत है । वेदों से लेकर पुराणों तक ज्ञान का अपार भण्डार भरा पड़ा है, लेकिन समाज का पतन होता ही जा रहा है । उसे रोकने के लिए और उसे उन्नति की ओर मोड़ने के लिए कार्य की सबसे अधिक जरूरत है । इसीलिए स्वामीजी कहा करते थे कि संन्यासियों को भी गाँव-गाँव जाकर लोगों की गरीबी दूर हो सके ऐसा कौशल उन्हें सिखाना चाहिए । गरीबी दूर हो जाने पर आध्यात्मिक ज्ञान सीखना ज्यादा सहज और सरल होगा ।

वे बार-बार कहा करते थे कि आज ऐसे नौजवानों की जरूरत है, जो अपने सुख और आराम के लिए नहीं, दूसरों के दुख-दर्द और देश की दुर्दशा को दूर करने के लिए सब कुछ बलिदान करने के लिए तयार हों। उनकी बातों का चमत्कारिक असर लोगों पर हुआ था। भारत का क्रान्तिकारी आन्दोलन विवेकानन्द से बहुत अधिक प्रभावित था। युवकों ने विवेकानन्द के प्रेरक भाषणों को सुन और पढ़कर क्रान्ति का मार्ग अपनाया और देश के लिए हँसते-हँसते फाँसी पर झूल गये।

यद्यपि स्वामीजी को कुल ३९ वर्ष का ही जीवन मिला था, लेकिन उन्होंने अपनी चमत्कारिक आध्यात्मिक शक्ति से देश-विदेश में भारतीय तत्त्वज्ञान की गहनता और श्रेष्ठता का ऐतिहासिक प्रभुत्व स्थापित कर दिया था। वे अपने देश और समाज को बेहद प्यार करते थे। आज जब हम उनके जीवन और उनकी शिक्षाओं का स्मरण कर रहे हैं, तब हमें भी यह संकल्प करना चाहिए कि हम स्वामीजी-जैसा देशभक्त बन सकें, अपने समाज के दुख-दर्द को पहचान सकें। ऐसा करके ही हम विवेकानन्द को सही ढंग से समझ सकेंगे।

○

जीवन में मेरी सर्वोच्च अभिलाषा यही है कि एक ऐसा चक्र-प्रवर्तन कर दूँ, जो उच्च एवं श्रेष्ठ विचारों को सबके द्वार-द्वार पहुँचा दे और फिर स्त्री-पुरुष अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर लें।

—स्वामी विवेकानन्द

आस्तिक और नास्तिक

डा० बृजमोहन निगम
(९ तिवारी कालोनी, उज्जैन)

आस्तिक और नास्तिक का झगड़ा कई सदियों पुराना है। आज तक न तो सुलझ पाया है, न आशा ही है कि कभी सुलझ भी पाएगा। इसीलिए प्रयास किया जाना चाहिए कि इनके अर्थों की ठीक-ठीक व्याख्या की जाए। साधारणतया इन शब्दों का सम्बन्ध ईश्वर से किया जाता है। जो उसमें विश्वास करता है, उसे आस्तिक कहते हैं और जो विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक कहलाता है। ये दोनों शब्द संस्कृत की 'अस्ति' धातु से बने हैं, 'अस्ति' में ठक् प्रत्यय मिला देने से आस्तिक बन जाता है। इसके अनुसार अर्थ होगा 'अस्तित्व' या सत्ता में विश्वास। यह अस्तित्व किसी भी वस्तु, विचार या धारणा का हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अस्तित्व मूर्त भी हो सकता है और अमूर्त भी। आस्तिक कहलाने के लिए केवल विश्वास चाहिए कि 'जो कुछ मैं कह रहा हूँ, या विचार कर रहा हूँ, या जो मेरी धारणा है उसका अस्तित्व है।' यह आवश्यक नहीं रहता कि हमारे विश्वास की प्रत्येक बात को प्रमाणित करने के लिए उसे प्रयोगशाला में सिद्ध किया जाए। और, हर बात को हर समय प्रयोगशाला में उपस्थित भी नहीं किया जा सकता। कुछ बातों को प्रत्यक्ष से प्रमाणित किया जा सकता है, लेकिन कुछ के लिए केवल तर्क से ही सन्तुष्ट हो जाना पड़ता है। कई बार जो प्रत्यक्ष होता है, उसके लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं रहती, वह तर्कातीत स्थिति रहती है। किसी आदमी का किसी स्त्री से प्रेम हो जाता है, क्यों होता है, और क्यों नहीं होना चाहिए, इसके लिए तर्कजाल व्यर्थ

है। प्रेम एक घटना है, घट जाती है, उसके पीछे कारणों को तलाशना या भविष्य के परिणामों के प्रकाश में सोचना व्यर्थ है। माँ बच्चे से प्यार करती है, क्यों और क्यों नहीं का उत्तर उसके पास नहीं है। प्यार की दुनिया में कुरूप सुन्दर बन जाता है और दुष्ट सन्त की श्रेणी में गिना जाता है। कारण एवं परिणामों की खोज करना उनका काम है, जिन्होंने प्यार नहीं किया है। मीरा गिरधर गोपाल को समर्पित हो चुकी, भला है या बुरा, यह सोचने का काम राणा परिवार का है। मीरा तो ढोल बजा-बजाकर कृष्ण से प्रेम करती है। आस्तिकता में भी यही बात सत्य होती है, हमारा विश्वास है कि अमुक सुन्दर है, अमुक शक्तिमान् है, अमुक भगवान् है। विश्वास के लिए तर्क की आवश्यकता नहीं रहती। तर्कोदय से विश्वास अस्त हो जाता है।

धर्म के क्षेत्र में विश्वास आस्तिकता कहलाता है, जिसका आशय है परमात्मा में विश्वास करना। नास्तिक वह है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। मनु वेदों में विश्वास करने को आस्तिकता कहते हैं, और वेदनिन्दक नास्तिक है। इन दोनों अर्थों में विश्वास करना प्रमुख है, फिर वह परमात्मा में हो या वेदों में। हम यह कह चुके हैं कि विश्वास में अपनापन होता है। अर्थात् विश्वास में व्यक्ति का महत्त्व है। मैं ईश्वर में विश्वास करता हूँ, यह आवश्यक नहीं है कि दूसरा भी विश्वास करे। इससे थोड़ा आगे चलकर कहना होगा कि मेरे ईश्वर में और आपके ईश्वर में भेद है। मैं जिस प्रकार की परमसत्ता में विश्वास करता हूँ, यह आवश्यक नहीं है कि आप भी उसी प्रकार का विश्वास रखें। लेकिन यह यथार्थ है कि ईश्वर में विश्वास करने-

वाले सभी यह मानते हैं कि ईश्वर परमशक्ति, परमज्ञान एवं परम सौन्दर्य है, जो सारे संसार का निर्माण करता है, उसे नष्ट भी करता है और मनुष्य के भाग्य का निर्णय भी करता है। इस विचार के आधार पर एक धार्मिक आदमी अपनी दैनिक जागतिक समस्याओं का निराकरण करता रहता है। धर्म के भेद ईश्वर में विश्वास के कारण नहीं होते——गुरु, सम्प्रदाय, कर्मकाण्ड, खान-पान, प्रादेशिकता, मन्दिर-मस्जिद के कारण नजर आते हैं। ये कारण बाह्य हैं, और इनकी जड़ संसार में है, इसलिए सांसारिकता का आना या भेद-बुद्धि का जाग्रत् होना अनिवार्य है। भेद-बुद्धि का आधार अहं की भावना है। अहं का विस्तार भी स्वाभाविक है। जितना-जितना अहं विस्तृत होता जाता है, उतना-उतना उसकी सुरक्षा के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। विभिन्न धर्मों के झगडे इसी विस्तार पाये अहं की सुरक्षा का प्रयास होते हैं। एक विचित्र बात है कि जो धर्म अहं से मुक्ति दिलाकर त्वं या अनादि और अनन्त क्षेत्र में प्रवेश करा देने का दावा करता है, वही एक विस्तृत सात्त्विक अहं में मनुष्य को फँसा देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म के सहारे मनुष्य अपनी मुक्ति को कठिन से कठिनतर बनाता जाता है। बच्चे का उदाहरण दिया जा सकता है। बच्चा निर्बोध, निस्संग एवं शान्त होता है, उसकी सरलता के कारण उसके सुख-दुःख क्षणिक होते हैं। उसे दुःख केवल शारीरिक असुविधा से होता है, क्योंकि उसका ऐसा कोई मानसिक संसार नहीं बना है, जो उसकी सुख-दुःख की अनुभूति को व्यापकता, अनेकता एवं गहराई दे। एक प्रकार से बालक मुक्तावस्था में ही रहता है, धीरे-धीरे जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है,

वह सांसारिकता में फँसता जाता है, और उसके सुख-दुःख का दायरा भी बढ़ता जाता है। लेकिन जन्मभर बालक बने रहना प्राकृतिक नियम के विरोध में है, मनुष्य की उम्र बढ़ती है और बाल्यावस्था पीछे छूटती जाती है। साथ ही बाल्यावस्था का भोलापन, सरलता एवं सहजता भी समाप्त हो जाती है। व्यावहारिक जीवन की जटिलताएँ मनुष्य को बुद्धि-प्रधान बना देती हैं, क्योंकि बुद्धि ही जटिलता पैदा करती है, और वही उसे सुलझा सकती है। लेकिन कोरी बुद्धि से समस्याएँ हल नहीं होतीं, हृदय का सहारा लेना पड़ता है। बालक की सहजता एवं सरलता उसके हृदय-प्रधान होने के कारण है, और बड़ी उम्र के लोगों में कुटिलता उनके बुद्धि-प्रधान होने के कारण। बाल्यावस्था की ओर लौटना असम्भव है, लेकिन बालसुलभ सहजता प्राप्त करना सम्भव है। साधना से ऐसी ऊँचाई प्राप्त करना सम्भव है, जबकि सहज समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाए। तब सुख और दुःख, पाप और पुण्य, छोटा और बड़ा, बुद्धि और हृदय का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है, और साधक बाल-सुलभ सहजता और विश्वास का जीवन जीने लगता है। रामकृष्ण परमहंस नरेन्द्र की प्रत्येक बात का विश्वास करते थे। उनका कथन रहता था——जब तू कहता है तो सत्य ही होगा। ईश्वर की सृष्टि सत्य का अवतरण है, मानवसृष्टि द्वन्द्वात्मक अनुभूतियों का महासागर। यदि हम विश्वास के इस धरातल पर पहुँच जाएँ कि यह जगत् भगवान् की सृष्टि है, तब तो द्वन्द्वात्मक अनुभव के लिए कोई अवकाश शेष नहीं रहता। कण-कण और तृण-तृण में महाप्रभु की लीला के दर्शन होते हैं, फिर पाप-पुण्य और

अशुभ-शुभ का भेद कहाँ रहा ? भगवद्गीता के कथन कि 'सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जा' का यही अभिप्राय है । धर्म देश-काल एवं समाज का सत्य प्रकट करते हैं । वे चिरन्तन सत्य की उद्घोषणा करते अवश्य हैं, लेकिन उनका आग्रह देश-काल-समाजगत सत्य के प्रति ही होता है । बहुधा ऐसा होता है कि चिरन्तन सत्य का उज्ज्वल पक्ष तो समाप्त हो जाता है और केवल रूढ़िवादिता शेष रह जाती है । कृष्ण का संकेत इसी ओर है । बालक किसी मन्दिर-मस्जिद और गुरुद्वारे में पैदा नहीं होता । वह भगवान की अनुकृति या सत्य का देहात्मक अवतरण होता है, उसे हम सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक संस्कारों से अपने-अपने बाड़े में बन्द कर लेते हैं । वह तरल-सरल शुद्ध गंगाजल नहीं रह पाता, चारों ओर तटों से घिरा तालाब बन जाता है । ये तालाब मान-सरोवर की पवित्रता प्राप्त कर सकते हैं बशर्ते कि साधना की हिमालयी ऊँचाई प्राप्त हो जाए ।

इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि आस्तिकता और धर्म साथ-साथ रहते हैं, कोई भी धर्म बिना आस्तिकता के अन्धा है, और कोई भी आस्तिकता बिना धर्म के पंगु है । धर्म दावा करते हैं कि संसार की दावाग्नि से बचने के लिए दोनों को एक दूसरे का सहारा लेना पड़ता है । लँगड़ा अन्धे आदमी के कन्धे पर बैठ जाए तो दिशा भी मिल सकती है और शक्ति भी, लेकिन धर्म का पालन मनुष्य करता है, जो कि नित्य परिवर्तनशील है । अतः ऐसा होना असम्भव है कि मनुष्य तो बदलता रहे, लेकिन धर्म अपनी अटल आस्तिकता से न हिले । विश्वास मनुष्य करता है, इसलिए उसके शारीरिक एवं मानसिक

क्षितिज के बढ़ने के साथ ही कल के विश्वास आज की घटना या वास्तविकता बन जाते हैं, या फिर असत्य सिद्ध हो जाते हैं। साधना का क्रमशः विकास झूठे विश्वासों का खण्डन भी करता है और परमतत्त्व के प्रति आस्तिकता के भाव को दृढ़ भी करता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि धर्म और सम्प्रदायगत साधना का क्षेत्र संकुचित होता है। इसलिए हमें निखिल सृष्टि या सम्पूर्ण विश्व के परिप्रेक्ष्य में ही आस्तिकता पर विचार करना चाहिए।

आस्तिकता का एक अर्थ यह भी है कि हम विश्वास करते हैं कि किसी शक्ति का अस्तित्व है, जिसें हम नहीं जानते। हमारे ज्ञान का दायरा (विज्ञान के साथ) बढ़ता जाता है, लेकिन फिर भी कुछ अधिक रह जाता है, जिसे हम नहीं जानते। हमारा ज्ञान सीमित है, लेकिन अज्ञान का क्षेत्र असीमित। गीता की भाषा में अज्ञान से ज्ञान आवृत है—'अज्ञानेन आवृतं ज्ञानम्'—जिसे उपनिषद् की भाषा में कहा गया है कि सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से ढँका हुआ है—'हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'। इसीलिए ऋषि प्रार्थना करता है कि तमस् से ज्योति की ओर ले चलो—'तमसो मा ज्योतिर्गमय'। सत्य, ज्ञान, ज्योति या प्रकाश में हमारा विश्वास है, और हमारी प्रगति उसी ओर है, केवल मार्ग का अन्धकार पार करना है। अन्धकार में भय लगता है, और भय से दुःख, ग्लानि, विकर्षण, निराशा इत्यादि भाव पैदा होते हैं। कभी-कभी राहगीर चलते-चलते रास्ते में ही नष्ट हो जाता है, कुछ ही आस्थावान् ऐसे होते हैं, जो तर जाते हैं। इन आस्थावान् लोगों का मार्ग आस्था की किरणों से आलोकित था।

इसलिए मार्ग में अन्धकार होते हुए भी पार निकल गये। इस तरह आस्तिकता मार्ग का प्रकाश है, एक आलोकित दिशा है, जो प्रेरणा बनकर चलते रहने के लिए प्रोत्साहित करती है। कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि उसने सब कुछ जान लिया है। विज्ञान भी इसी कारण दिन-प्रतिदिन आगे की खोज करता है। विज्ञान एक प्रकार से बाल-सुलभ हास्य है, जो कि खिलौना मिलने पर चेहरे पर प्रकट हो जाता है, लेकिन सर्वज्ञाता की स्थिति तो गहन-गम्भीर मौन की हो जाती है।

आस्तिक यदि प्रकाश में विश्वास करता है, तो क्या नास्तिक अन्धकार को पकड़े रहता है ? भारतीय दर्शन में बौद्धों, जैनों एवं चार्वाक मतों को नास्तिक कहते हैं, क्योंकि ये वेदबाह्य हैं तथा ईश्वर को भी नहीं मानते। लेकिन यह कहना तो उचित नहीं होगा कि ये किसी भी अस्तित्व को या प्रकाश को नहीं मानते। यह कह सकते हैं कि थमने का नाम नास्तिकता है और चलने का नाम आस्तिकता। दिशाएँ तो इनके पास भी हैं, और लाखों लोग इनके प्रकाश में आगे बढ़े हैं, और बढ़ रहे हैं। वैज्ञानिक नास्तिक नहीं होता, क्योंकि उसे प्रकृति की शक्तियों में विश्वास है, जिनकी खोज वह कर लेगा। लेकिन उसका विश्वास अमर बना रहेगा, क्योंकि विश्व इतना विराट् है कि कितना ही जान लेने पर भी कई रहस्य वह अपने पास छिपाये रखता है। ऐसा प्रतीत होता है कि नास्तिक और आस्तिक दोनों एक ही राह से मार्केट जा रहे हैं, लेकिन दोनों के मानस भिन्न हैं, एक आम खरीदना चाहता है, दूसरा अमरूद। आम और अमरूद दोनों फल हैं, मीठे हैं, तृषा एवं क्षुधा शान्त करते हैं, केवल स्वाद भिन्न है, परन्तु खा

लेने पर तृप्ति एक ही प्रकार की देते हैं। एक गोल आकृति पर एक बिन्दु की स्थिति पर आस्तिक को रखें, तो नास्तिक को भी उसी बिन्दु पर रखना होगा, क्योंकि यदि वे परस्पर ऐकान्तिक (mutually exclusive) हैं, तो उनमें अधिक से अधिक दूरी एक ही बिन्दु पर समाप्त होगी। केवल एक का मुंह आपके दायें और दूसरे का आपके बायें होगा। यह भेद आपकी स्थिति करती है, क्योंकि गोल आकृति की कोई दिशा नहीं होती। इस तरह आस्तिक-नास्तिक का भेद दर्शक करते हैं, सच्चा नास्तिक और सच्चा आस्तिक एक ही घर में रहकर एक ही शक्ति की पूजा करते हैं, केवल पूजा की भाषा एवं कर्मकाण्ड में भिन्नता है। सारा झगडा पूजा-पद्धति एवं कर्मकाण्ड का है, भगवान् का नहीं। जैसा कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर और तेरापन्थी एवं बीस-पन्थी जैनियों के उपास्य महावीर ही हैं, लेकिन आपसी वैमनस्य के कारण धार्मिक समस्या का हल अदालतों में ढूंढ़ते हैं। आस्तिकता का मनोवैज्ञानिक स्वरूप श्रद्धा या आस्था है। श्रद्धा का अर्थ है चित्त की प्रसन्नता जो कि जननी के समान योगी का कल्याण करनेवाली होती है।* भगवद्गीता के अनुसार श्रद्धा से ज्ञान प्राप्त होता है––'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्'। साथ ही गीता का कथन है कि पुरुष श्रद्धामय होता है–– 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'। अर्थात् मनुष्य में श्रद्धा का होना अनिवार्य है। यह बिलकुल भिन्न बात है कि श्रद्धा का विषय क्या है। श्रद्धा की मानसिकता से कर्म का निश्चय होता है। हमारी प्रत्येक गतिविधि के लिए श्रद्धा का होना

* योगसूत्र, १।२०, व्यासभाष्य––'चेतसः संप्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति'।

अनिवार्य है। जब तक किसी अस्तित्व या फल या भविष्य में आस्था या श्रद्धा न हो, तब तक उस दिशा में कोई गति सम्भव ही नहीं है। इस तरह श्रद्धा वर्तमान एवं भविष्य की मानसिकता का समन्वय है। वर्तमान हमारी क्षमता एवं यथार्थ का प्रतीक है, जबकि भविष्य हमारी सम्भावना एवं कल्पना का परिचायक। प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व भिन्न होता है, इस कारण उसकी श्रद्धा भी भिन्न होगी। श्रद्धा एक मानसिक गुण है, जिसमें संस्कार एवं परिष्कार की अनेक सम्भावनाएँ हैं। इसी कारण कोई आदमी पेड़-पौधे एवं जानवरों की पूजा करता है, तो कोई निर्गुण, निराकार और निर्विशेष ब्रह्म के अस्तित्व में आस्था रखता है। मनुष्य में श्रद्धा, आस्था या आस्तिकता का लोप नहीं हो सकता। मनुष्य किसी पराशक्ति, पराविद्या या शास्त्र में विश्वास रखे या न रखे, उसके अपने अस्तित्व में तो विश्वास होता ही है। वह किसी भी अस्तित्व को अस्वीकार कर सकता है, लेकिन अपने स्वतः के अस्तित्व को नहीं भूल सकता। भारतीय विद्या इस मूलतत्त्व को पकड़कर 'आत्मा ही परमात्मा' या 'जीवो ब्रह्मैव' की स्थापना करती है। आत्मा और परमात्मा या जीव और ब्रह्म के बीच का अन्तर अज्ञान के कारण है, जिसे साधना से दूर किया जा सकता है। आस्तिकता या श्रद्धा के इस व्यापक अर्थ के ही कारण भारतीय संस्कृति में ईश्वरवाद या एकेश्वरवाद के प्रति आग्रह या कट्टरता नहीं है। कई धर्मों की तरह ईश्वरवादी न होकर भी भारतीय आस्तिक हो सकता है, क्योंकि वह अपनी आत्मा में विश्वास करता है, और यह आत्मा जगदात्मा है। उसके अनुसार तो जड़-चेतन का भेद भी तिरोहित हो जाता है, केवल भगवत्-

लीला नजर आती है।

हमारे दैनिक व्यवहार का आधार भी आस्था या आस्तिकता है। कल सूर्य निकलेगा, वर्षा ऋतु में वर्षा होगी, पानी प्यास बुझाएगा इत्यादि हमारे विश्वास हैं। हमें विश्वास है कि अमुक आदमी ऐसा काम कर सकता है, हमें यह पुस्तक वहाँ उपलब्ध होगी, समाज में कोई व्यवस्था होती है। ऐसी अनेक बातें हैं, जो हमारे विश्वास को प्रकट करती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि विश्वास या अस्तित्व के प्रति आस्था के बिना जीवन चलना असम्भव है। इसका अर्थ यह होगा कि नास्तिकता किसी परिस्थिति में हमारे अज्ञान का परिचय मात्र है। यह कहना कि चूंकि मैं नहीं देखता या जानता हूँ इसलिए किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है, दुराग्रह मात्र है। दूसरे का अनुभव हमारा ज्ञान बन जाता है। इसलिए अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि मैं नहीं जानता, लेकिन यह कहना कि उसका अस्तित्व नहीं है, उचित नहीं है। नास्तिकता चूंकि नकारात्मक है, इसलिए सृजनात्मक नहीं हो सकती। सृजन अस्तित्व से अस्तित्व की ओर प्रगति का नाम है। नास्तिक यदि किसी अस्तित्व में विश्वास नहीं करता, तो कर्म की प्रेरणा ही समाप्त हो जाती है। महादेवी वर्मा ने ठीक ही कहा है——

"नास्तिकता उसी दशा में सृजनात्मक विकास दे सकती है, जब ईश्वरता से अधिक सजीव और सामंजस्यपूर्ण आदर्श जीवन के साथ चलता रहे। जहाँ केवल अविश्वास ही उसका सम्बल है, वहाँ वह जीवन के प्रति भी अनास्था उत्पन्न किये बिना नहीं रहती। और जीवन के प्रति अविश्वासी व्यक्ति का सृजन के प्रति भी अनास्थाभाव हो

जाना अनिवार्य है । ऐसी परिस्थिति का अन्तिम और अवश्यम्भावी परिणाम जीवन के प्रति व्यर्थता की भावना और निराशा ही होती है ।"*

* महादेवी साहित्य, भाग १, सेतु प्रकाशन, १९६९, पृ. १८७ ।

○

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथा

एक पिता के दो लड़के थे। ब्रह्मविद्या सीखने के लिए पिता ने दोनों को आचार्य के हाथ सौंप दिया। कुछ साल बाद दोनों गुरुगृह से लौटे और उन्होंने आकर पिता को प्रणाम किया। पिता की इच्छा हुई कि देखें इन्हें कैसा ब्रह्मज्ञान हुआ है। उन्होंने बड़े लड़के से पूछा, "बेटा ! तुमने तो सब कुछ पढ़ा है, अब बताओ तो सही ब्रह्म कैसा है ?" बड़ा लड़का वेदों में से नाना श्लोक बताते हुए ब्रह्म का स्वरूप समझाने लगा। पिता चुप रहे। जब उन्होंने छोटे लड़के से पूछा, तो वह सिर नीचे किये चुप रहा, मुँह से एक बात न निकली। तब पिता ने प्रसन्न होकर छोटे लड़के से कहा, "बेटा ! तुम्हीं ने कुछ समझा है। ब्रह्म क्या है यह मुँह से बताया नहीं जा सकता।"

○

स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक

ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य

(रामकृष्ण मठ, नागपुर)

सन् १८९२ ई. के सितम्बर का महीना। बम्बई के विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन पर पूना की ओर जाने वाली ट्रेन खड़ी थी और उसके द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में कुछ मराठी नवयुवक बैठे थे, जिनमें एक का नाम था बाल गंगाधर तिलक। ट्रेन छूटने के थोड़ी देर पूर्व उसी डिब्बे में एक युवा संन्यासी ने भी प्रवेश किया। कुछ गुजराती सज्जन उन्हें पहुँचाने रेल्वे स्टेशन को आये हुए थे। उन लोगों ने एक टिकट खरीदकर स्वामीजी को दी और तिलक से अनुरोध किया कि पूना पहुँचने पर वे वहाँ इन संन्यासी के ठहरने की व्यवस्था कर दें।

ट्रेन चलने के साथ ही नवयुवकों में आपसी बातचीत भी शुरू हुई। सम्भवतः उन लोगों ने सोचा था कि यह संन्यासी अँगरेजी भाषा से अनभिज्ञ होगा, अतः वे अँगरेजी में संन्यास के औचित्य और अनौचित्य को लेकर वितण्डा करने लगे। कुछ नवयुवकों ने संन्यास-आश्रम की निन्दा की और उसे अकर्मण्यता का प्रतीक बताया। दूसरी ओर तिलक अकेले ही उनकी सारी युक्तियों का खण्डन करते हुए संन्यासी-जीवन की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर रहे थे। काफी देर तक उनका वाद-विवाद चला और पास ही बैठा युवक संन्यासी चुपचाप सब कुछ सुनता रहा। सुधारवादी युवकों की संन्यास-विरोधी थोथी दलीलें आखिर

वह कब तक सुनता। संयम की भी एक सीमा होती है। उसने अपना मौन तोड़ते हुए प्रांजल भाषा में तिलक का समर्थन करते हुए उन्हें समझा दिया कि इतिहास, संस्कृति, शिक्षा, समाज-सुधार तथा धर्म के क्षेत्र में संन्यासियों की देन कितनी महत्त्वपूर्ण रही है। बुद्धदव, ईसामसीह, शंकराचार्य और चैतन्य महाप्रभु संन्यासी ही तो थे और इनकी देन को यदि इतिहास से निकाल दिया जाय, तो फिर बचेगा ही क्या ? और पिछले हजारों वर्षों से इन संन्यासियों ने ही तो भारत के विभिन्न प्रदेशों का दौरा करते हुए, हमारे राष्ट्रीय जीवन के उच्चतम आदर्शों का-शिक्षा, संस्कृति और धर्म का-सर्वत्र प्रचार किया है और वह भी बिना कोई प्रतिदान लिये। स्वामीजी की अकाट्य युक्तियाँ सुनकर वे नवयुवक निरुत्तर रह गये। तिलक ने जिस प्रचण्ड शक्ति के साथ उस वाग्युद्ध में भाग लिया था, उसे देखकर स्वामीजी मुग्ध हो गये थे और तिलक भी स्वामीजी का अगाध पाण्डित्य तथा अपूर्व वाग्वैभव देख हतप्रभ रह गये थे।

पूना पहुँचने पर तिलक उन अद्भुत संन्यासी को अपने घर ले गये, जहाँ उन्होंने आठ-दस दिनों तक निवास किया। स्वामीजी के इस पूना-प्रवास का तिलक ने अपने संस्मरणों में उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार, उन दिनों स्वामीजी के पास सिर्फ दण्ड-कमण्डलु, मृगचर्म, दो-एक कपड़े और कुछ पुस्तकें थीं। वे अपने पास पैसे बिल्कुल न रखते थे और लोगों के साथ अधिक मिलना-जुलना या बातचीत भी नहीं करते थे। नाम पूछने पर उन्होंने बस इतना

ही कहा था कि वे संन्यासी हैं। कई वर्षों के बाद ही तिलक को यह पता चल पाया था कि वे अनाम संन्यासी ही विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द थे। पर अभी तो वे दुनिया की नजरों से दूर एक अपरिचित अकिंचन भिक्षुक मात्र थे। सन् १८८६ ई. में अपने गुरुदेव के देहावसान के बाद से पिछले पाँच-छः वर्षों से वे परिव्राजक के रूप में भ्रमण करते हुए समूचे भारत और उसकी समस्याओं से परिचित होने का प्रयास कर रहे थे। कहीं वे ठहरते थे सच्चिदानन्द के नाम से, तो कहीं विविदिषानन्द के नाम से। वे अभी तक लोक-प्रसिद्धि आदि को टाल रहे थे, इसीलिए तिलक द्वारा नाम पूछने पर उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा कि वे एक संन्यासी हैं।

अपने पूना-निवासकाल में वे कभी-कभी तिलक के साथ वेद-वेदान्त और गीता आदि विषयों पर चर्चा किया करते। महाराष्ट्र की नारियों में पर्दा-प्रथा का अभाव देख स्वामीजी ने यह आशा प्रकट की थी कि बौद्ध-युग की ही भाँति यहाँ के उच्चवर्ग की कुछ महिलाएँ यदि धर्म और आध्यात्मिकता के प्रचारार्थ अपना जीवन समर्पित कर दें, तो यह अति उत्तम होगा।

पूना के डेकन-क्लब की साप्ताहिक बैठकें उन दिनों हीराबाग में हुआ करती थीं। वहाँ ऐसी प्रथा थी कि प्रत्येक बैठक में कोई एक सदस्य किसी विषय पर व्याख्यान देता था और तत्पश्चात् बाकी सदस्य उसी विषय पर वाद-विवाद करते। वहाँ की सभी कार्यवाहियों का माध्यम अँगरेजी था। तिलक उस क्लब के सदस्य थे और वहाँ नियमित रूप से जाया करते थे। एक दिन सन्ध्या को

वे अपने साथ इन संन्यासी को भी क्लब की एक बैठक में ले गये। उस दिन वहाँ काशीराम गोविन्द नातू ने किसी दार्शनिक विषय पर एक सुन्दर-सा व्याख्यान दिया। अब प्रचलित प्रथा के अनुसार किसी अन्य सदस्य को उसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने थे। परन्तु व्याख्यान का विषय थोड़ा गूढ़ होने के कारण कोई भी खड़ा न हुआ। तब तिलक ने स्वामीजी से कुछ बोलने का अनुरोध किया। स्वामीजी ने उसी विषय के दूसरे पक्ष पर एक प्रांजल व्याख्यान दिया। विषय की इतनी सुन्दर व्याख्या सुनकर उपस्थित सभी लोग मन्त्रमुग्ध रह गये।

इस घटना के बाद पूना नगर के निवासियों से स्वामीजी की असाधारण प्रतिभा छिपी न रह सकी। उनसे मिलने और उनकी दो बातें सुनने के लिए आनेवालों का ताँता बँध गया। स्वामीजी उन लोगों के साथ धर्म एवं शास्त्रों पर चर्चा किया करते। लोक-समागम बढ़ जाने से उनके अध्ययन-मनन में बाधा पड़ रही थी। एक दिन उन्होंने तिलक से कहा कि अगले दिन वे चले जायेंगे, और प्रातःकाल किसी के उठने से पूर्व ही वे महाबलेश्वर की ओर प्रस्थान कर चुके थे।

* * * *

एक वर्ष बाद सन् १८९३ ई. में शिकागो में विश्व-धर्म-सम्मेलन हुआ और उसमें हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व कर स्वामीजी ने अभूतपूर्व ख्याति अर्जित की। सारे विश्व में उनकी धवल कीर्ति फैल गयी और भारत-वासियों के तो आनन्द का ठिकाना न रहा। राजनीतिक क्षेत्र में पराधीन भारत ने धार्मिक क्षेत्र में अपनी

श्रेष्ठता प्रमाणित कर ली थी। कई वर्षों तक स्वामीजी अमेरिका और यूरोप में वेदान्त-प्रचार करते रहे। तिलक के मन में उन संन्यासी तथा उनके कार्यों के प्रति खूब प्रशंसा का भाव था। उन्होंने अपने संवाद-पत्र 'मराठा' में स्वामीजी के धर्मप्रचार सम्बन्धी संवाद प्रकाशित किये और उनके 'हिन्दू-धर्म पर निबन्ध' की बड़ाई भी की। पर काश! तिलक को यह मालूम होता कि स्वामी विवेकानन्द वे ही तरुण संन्यासी थे, जो पिछले वर्ष ८-१० दिनों तक उनके घर में अतिथि के रूप में ठहरे थे।

लगभग चार वर्ष बाद स्वामीजी वापस भारत लौटे। सर्वत्र ही उनका स्वागत और अभिनन्दन हुआ। प्राच्य में सबसे पहले वे श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में उतरे। वहाँ के एक दैनिक ने उनके चित्र के साथ उनकी संवर्धना तथा व्याख्यान आदि का संवाद प्रकाशित किया था। तिलक को इस समाचार-पत्र में पहली बार स्वामीजी का फोटोग्राफ देखने को मिला। आकृति आदि में समानता देख तिलक के मन में प्रश्न उठा-क्या ये वही संन्यासी हैं? अपना सन्देह प्रकट करते हुए उन्होंने स्वामीजी को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने निवेदन किया कि यदि वे वही संन्यासी हैं, तो कलकत्ता जाने के रास्ते उन्हें दर्शन देते हुए जायँ यानी कि वे पूना होकर जाएँ। पहले तो स्वामीजी ने सोचा था कि वे तिलक का आमंत्रण स्वीकार कर पूना जाएँगे, पर फिर विचार करने पर उन्हें लगा कि इतने कठोर परिश्रम के पश्चात् उन्हें तत्काल विश्राम की आवश्यकता है। फिर, उनके आगामी दो महीनों का कार्यक्रम पहले से ही निश्चित

हो चुका था, जिसमें फेरबदल करने की कोई गुंजाइश नहीं थी। अतः तिलक के पत्र का उत्तर देते हुए स्वामीजी ने लिखा कि उनका अनुमान सही है और जहाँ तक पूना आने का प्रश्न है, उनकी हार्दिक इच्छा होते हुए भी फिलहाल वे न आ सकेंगे। उस पत्र में और भी बहुत सी महत्त्वपूर्ण तथा उत्साहवर्धक बातें लिखी थीं।* स्वामीजी यद्यपि तुरन्त पूना आने का कार्यक्रम न बना सके थे, परन्तु तिलक उनसे मिलने को इतने व्यग्र थे कि उन्होंने स्टीमर में श्रीलंका जाने का निश्चय किया और अपने घनिष्ठ सहयोगी वसुकाका के साथ निकल भी पड़े। पर विनायकराव चिपलूणकर की अस्वस्थता का समाचार पा उन्हें बीच रास्ते से ही लौट आना पड़ा था।

२७ और २८ जुलाई, १८९७ ई को पूना में प्लेग अफसर मि. रैण्ड और लेफ्टिनेंट आयर्स्ट के हत्याकाण्ड के सिलसिले में तिलक एवं उनके कुछ सहयोगियों को गिरफ्तार कर लिया गया तथा उनके पत्र 'केसरी' पर भी प्रतिबन्ध लग गया। स्वामीजी यह समाचार पाकर व्यथित हुए थे तथा उन्होंने अपना आक्रोश भी प्रकट किया था। ६ सितम्बर, १८९८ ई० को तिलक कारामुक्त हुए और शीघ्र ही उन्होंने 'केसरी' का पुनः प्रकाशन आरम्भ कर

* "क्या अभी तक वह पत्र आपके पास है ?"--इस प्रश्न के उत्तर में तिलक ने कहा था--"नहीं, वह सम्भव न था। सन् १८९७ में ('केसरी' पर मुकदमा समाप्त होने के बाद) थोड़े से आवश्यक कागजों को छोड़ बाकी सब कुछ अग्निदेवता को सौंप दिया गया था। फिर भी उस पत्र का मज़मून मुझे अब भी अच्छी तरह याद है।" ऐसा कहकर उन्होंने अपनी स्मृति से उस पत्र के कुछ वाक्य सुनाये थे।

दिया। तिलक ने अपने इस संवाद-पत्र में स्वामीजी एवं उनके कार्य से सम्बन्धित अनेक समाचार प्रकाशित किये। इसी वर्ष दिसम्बर में कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने वे मद्रास गये। वहाँ उन्हें प्रसिद्ध सालीसीटर विलगिरि अय्यर के ऐतिहासिक भवन 'कैसल करनन' † में ठहराया गया था। कभी उसी भवन में लार्ड क्लाइव रहा करते थे। जब किसी ने तिलक का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहा, तो वे बोले कि इस जगह का महत्त्व लार्ड क्लाइव के निवास के कारण नहीं है, वरन् चूँकि इसी जगह पर विवेकानन्द को अपने धर्मकार्य में प्रोत्साहन मिला था इसलिए मुझे इस भवन में ठहरने पर अभिमान है।

* * * *

कहावत है कि पहाड़ यदि मुहम्मद के पास नहीं आता, तो मुहम्मद ही पहाड़ के पास जाएँगे। तिलक के बारम्बार आमंत्रित करने के बावजूद स्वामीजी अपनी अस्वस्थता तथा व्यस्तता की वजह से पुनः पूना न जा सके। परन्तु विधि के विधानवश दो ही तीन वर्षों के भीतर तिलक को कलकत्ता आने का सुयोग हुआ। सन १९०१ ई. में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में होना निश्चित हुआ था, जिसमें भाग लेने को देश के कोने-कोने से प्रतिनिधि कलकत्ते में आकर एकत्र होने लगे। तिलक को रिपन कालेज में ठहराया गया। कलकत्ता पहुँचते ही तिलक की स्वामीजी से मिलने की इच्छा बलवती हो उठी।

† अब उस भव्य भवन का नाम 'विवेकानन्द हाउस' कर दिया गया है।

काँग्रेस अधिवेशन में भाग लेने आये हुए अनेक देशप्रेमी, राजनीतिज्ञ और समाजसेवक प्रतिदिन सायंकाल स्वामीजी से मिलने बेलुड़ मठ जाया करते। स्वामीजी अपनी अस्वस्थता के बावजूद उनसे मिलते और धर्म, समाज तथा राजनीति आदि विविध विषयों पर चर्चा करते। उनके जीवनीकार की दृष्टि में मानो वहीं पर काँग्रेस का एक और अधिवेशन हो रहा था। लोकमान्य तिलक स्वामीजी से मिलने बेलुड़ मठ आये। इस ऐतिहासिक घटना के कई विवरण मिलते हैं, जिनमें प्रमुख हैं तिलक के अपने संस्मरण तथा स्वामीजी के मराठी शिष्य निश्चयानन्द द्वारा प्रदत्त विवरण। इन विविध विवरणों का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि तिलक केवल एक ही बार नहीं वरन् कई बार बेलुड़ मठ आये थे।

स्वामी निश्चयानन्द के वर्णनानुसार एक दिन दोपहर में तिलक नाव में बेलुड़ मठ आये और दक्षिण की ओर के बेल के वृक्ष के नीचे उतरे। वहाँ उनको भेंट एक वृद्ध संन्यासी से हुई। तिलक ने उन्हें अपने नाम का कार्ड देते हुए स्वामीजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। तिलक इंतजार करते रहे और वे कार्ड लेकर मठ में इधर-उधर घूम कर लौट आये। उन्होंने सम्भवतः अस्वस्थ स्वामीजी के आराम में खलल डालना उचित न समझा, क्योंकि वे तिलक को और उनकी स्वामीजी के साथ विशेष मित्रता की बात को नहीं जानते थे। उन्होंने लौटकर तिलक से कहा कि स्वामीजी की तबीयत अच्छी नहीं है और वे अभी न मिल सकेंगे। तिलक ने विनयपूर्वक कहा कि आप कृपया इस कार्ड को

सुविधानुसार उन्हें दे दीजिएगा । इसके बाद वे उसी नाव में बैठकर वापस लौट गये ।

शाम को जब स्वामीजी अपने कमरे में से निकलकर नीचे आये, तो उन्हें वह कार्ड दिया गया । कार्ड पर तिलक का नाम देखते ही स्वामीजी ने पूछा कि वे कहाँ हैं ? उन वृद्ध संन्यासी ने उत्तर दिया कि वे दोपहर को आकर लौट गये । स्वामीजी नाराज होकर उन्हें डाँटने-फटकारने लगे, फिर निश्चयानन्द से बोले——देख ! तू तो मराठी है, तू तिलक को जानता है, तूने मुझे खबर क्यों नहीं दी ? इसके बाद स्वामीजी ने तुरन्त अपने हाथ से तिलक को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने भेंट न हो पाने पर दुःख प्रगट करते हुए उन्हें पुनः आने का निमंत्रण दिया ।

श्री विष्णु विनायक रानडे अपनी स्मृतिकथा में लिखते हैं कि स्वामीजी का पत्र पाने के दो-एक दिनों के भीतर ही तिलक अपने १०-१२ सहयोगियों के साथ बेलुड़ मठ आये । स्वामीजी ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें नौका से नीचे उतारा और उन्हें आलिंगन-पाश में जकड़ लिया । दोनों के नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित हो रहे थे । दर्शकों को लगा कि यह बंगाल और महाराष्ट्र का मिलन है । निश्चयानन्द के विवरण के अनुसार स्वामीजी मठ-भवन के दक्षिण तरफ के मैदान में तिलक के साथ टहलते हुए तरह-तरह की बातें करने लगे । वहाँ किसी को भी जाने की अनुमति न थी । दूर से उनके हाव भाव को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि स्वामीजी उत्तेजित होकर, सिर और हाथ हिला-हिलाकर बातें कर रहे हैं और तिलक सब कुछ धीर-

स्थिर भाव से सुने जा रहे हैं। पर उनके बीच क्या बातें हुई यह किसी को भी पता नहीं चल पाया।

एक दिन और अपराह्न में तिलक आये थे और सभी को मसालेदार चाय बनाकर पिलायी थी। जायफल, जायत्री, इलायची, लौंग और केसर आदि का गरम पानी में काढ़ा बनाने के बाद उसमें चाय, दूध और चीनी डालकर उन्होंने वह मसालेदार चाय बनायी थी। एक पूरा हण्डा भरकर वह चाय बनी थी। चाय इतनी जायकेदार बनी थी कि किसी किसी ने तो दो-दो तीन-तीन कप तक पीने की इच्छा की थी, पर तिलक ने मना करते हुए कहा था कि कोई भी एक कप से ज्यादा न पिये। हाँ, बाद में यदि कोई चाहे तो पी सकता है। उस चाय की तासीर इतनी उग्र थी कि धीरे-धीरे सभी के शरीर में गरमी आ गयी और किसी ने दुबारा वह चाय नहीं पी।

इन मुलाकातों के दौरान स्वामीजी और तिलक के बीच क्या बातें हुई थीं इसका पूरा पता तो नहीं चलता है, पर उस समय उपस्थित लोगों के संस्मरणों से इसका थोड़ा आभास जरूर मिलता है। विनायक विष्णु रानडे के अनुसार स्वामीजी ने मुख्य रूप से कहा था—"हम लोग पराधीन हैं। हमारी राजनीतिक कार्यावली को आत्म-निर्भर होना चाहिए। हमारी पद्धति विरोधात्मक होगी। वह ऐसी होगी, जिससे शासकगण घुटने टेककर हमारी बातें मानने को बाध्य होंगे।" कुमुदबन्धु सेन ने लिखा है कि स्वामीजी ने तिलक से चाफेकर बन्धुओं के बारे में बातें की थीं और कहा था कि जगह-जगह उनकी मूर्तियाँ स्थापित कर पूजा होना चाहिए। यहाँ स्मरणीय है कि चाफेकर बन्धुओं ने तिलक की विचारधारा से प्रभा-

वित होकर ही दो अँगरेज अधिकारियों की हत्या कर थी और परिणामस्वरूप उन्हें फाँसी पर झूलना पड़ा था। दामोदर चाफेकर की अन्तिम अभिलाषा के अनुसार तिलक ने उन्हें गीता भेजी थी और देहान्त के बाद उनके अन्तिम संस्कार की व्यवस्था की थी। लोकमान्य के सहयोगी वसुकाका जोशी का कहना है कि उन दोनों के बीच यह निश्चित हुआ था कि स्वामीजी धर्म के क्षेत्र में तथा तिलक राजनीति के माध्यम से राष्ट्रीय पुनर्गठन का कार्य करेंगे।

तिलक अपने संस्मरणों में लिखते हैं—"स्वामीजी से वहाँ मेरी अनेक विषयों पर चर्चा हुई। धर्म उनका प्रमुख विषय होने के बावजद सभी मानवीय विषयों पर उनका अच्छा अधिकार था। उनके साथ किसी भी विषय पर बातचीत करना आनन्ददायक था। वार्तालाप के दौरान मेरे देखने में आया कि जनसाधारण की शिक्षा, एकता और जागरण के सम्बन्ध में उनका बहुत ही तीव्र आग्रह है।" वार्तालाप के दौरान स्वामीजी ने विनोदपूर्वक कहा था कि क्या ही अच्छा होता यदि तिलक संसार त्यागकर बंगाल में आकर शिक्षा और धर्म-प्रचार द्वारा लोगों को जागृत करते तथा वे स्वयं वही कार्य महाराष्ट्र में जाकर करते; क्योंकि कोई व्यक्ति अपने ही क्षेत्र में उतना प्रभावी नहीं हो पाता, जितना कि दूर के प्रान्तों में—'A prophet is not honoured in his own land.'

मुलाकात के पश्चात् तिलक के लौट जाने पर स्वामीजी ने अपने गुरुभाईयों से उनकी बहुत प्रशंसा की थी और कहा था कि आज एक ठीक-ठीक 'मनुष्य' मिला। स्वामी

तुरीयानन्द ने अपने एक पत्र में स्वामीजी की इस प्रशसा का उल्लेख किया है। स्वामीजी के पत्र एवं रचनाओं में छिट-पुट तिलक का नाम आया है। अपने 'परिव्राजक' ग्रन्थ में वे लिखते है——"पं. बाल गंगाधर तिलक ने यह प्रमाणित किया है कि हिन्दुओं के वेद ईसा से कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व वर्तमान आकार में थे।" उन्होंने किसी-किसी को तिलक के 'ओरायन' ग्रन्थ को पढ़ने का सुझाव भी दिया था।

स्वामीजी के देहावसान के चार दिन बाद ८ जुलाई, १९०२ ई. के 'केसरी' में एक सम्पादकीय लेख के माध्यम से तिलक ने उन्हें अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी। स्वामीजी के एक फोटोग्राफ के साथ प्रकाशित इस लेख में उन्होंने उनकी आदि शंकराचार्य से तुलना की थी और कहा था——"....हजारों वर्षों से भारतवर्ष में अध्यात्मशास्त्र की गंगा बह रही है। पश्चिम के विद्वानों के सम्मुख उसे प्रस्तुत करना और उसकी अपूर्वता को उनसे मनवाकर उनके मन में भारत-वर्ष के प्रति सहानुभूति पैदा करना कोई मामूली बात नहीं है। पश्चिम की भौतिकता का प्रवाह भारत में अँगरेजी-विद्या के साथ-साथ इस तेजी साथ बहता चला आया है कि उसे पीछे हटाने का काम कोई असाधारण बुद्धिशाली और धीर व्यक्ति ही कर सकता था।.... इसमें कोई शक नहीं कि इस प्रवृत्ति को हिन्दू-धर्म की असली बुनियाद पर रखने का काम विवेकानन्द ने ही सर्व-प्रथम किया।

"हिन्दू धर्म के उज्ज्वल स्वरूप का दर्शन कराना और अपनी इस अनमोल सम्पत्ति का सारी दुनिया में

प्रचार करना हमारा सही कर्तव्य है। यह कार्य केवल भाषण देकर ही नहीं, बल्कि अपने आचरण के द्वारा सारी दुनिया के सामने प्रस्तुत करने वाले सत्पुरुष हजार-बारह सौ वर्ष पहले एक शंकराचार्य हुए थे और दूसरे उन्नीसवीं सदी में स्वामी विवेकानन्द।"

सन् १९०५ ई. में तिलक को बम्बई में आयोजित श्रीरामकृष्ण-जन्मोत्सव-सभा की अध्यक्षता करने का आमंत्रण मिला। उत्तर में उन्होंने औरंगाबाद से लिखा था कि वे एक अति आवश्यक कार्य में व्यस्त होने के कारण उत्सव में भाग न ले पाएँगे और अन्त में यह भी लिखा था कि "गुरु और शिष्य * दोनों ही के प्रति मेरी असीम श्रद्धा है तथा आपके आन्दोलन के प्रति मेरी पूर्ण सहानुभूति है। मैं इसकी सफलता की हार्दिक कामना करता हूँ।" इसके परवर्ती महीने में बम्बई में ही एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया था, जिसके लिए स्वामी रामकृष्णानन्द मद्रास से बम्बई आये हुए थे। उनमें से एक भाषण की अध्यक्षता करते हुए तिलक ने बम्बई की जनता से वहाँ पर रामकृष्ण मठ का एक केन्द्र स्थापित करने की अपील की थी और इस विषय पर उन्होंने 'केसरी' में एक लेख भी लिखा था। इसी अवसर पर बम्बई में मठ-निर्माण के लिए एक कमेटी का गठन हुआ, जिसने तिलक को अपना अध्यक्ष चुना था। पर तिलक ने कहा कि वे एक राजनैतिक कार्यकर्ता हैं और कमेटी में उनका नाम होनेपर संस्था के काम में बाधा पड़ सकती है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि (कमेटी के)

---

* श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द।

सदस्य होने की अपेक्षा वे उसके बाहर रहकर उसकी ज्यादा सहायता कर सकेंगे ।

फरवरी १९२० ई. में पूना में श्री रामकृष्ण-जन्मोत्सव आयोजित हुआ था । इस उत्सव-सभा के अध्यक्ष-पद से उन्होंने जो भाषण दिया, वह उनके जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्याख्यानों में एक माना जाता है । इस व्याख्यान में उन्होंने कहा था कि यह अत्यन्त दुःख की बात है कि भारत के लिए स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरुदेव की खोज अमेरिकन लोगों ने की । इसका कारण यह है कि भारतवासी अपने वीरों को पहचानने की क्षमता खो चुके हैं। स्वामीजी के प्रति तिलक की सम्भवतः यही अन्तिम श्रद्धांजलि थी ।

तिलक पर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव के बारे में निश्चयानन्द का मत है कि पहले तिलक केवल मराठा ब्राह्मणों के उत्थान के कार्य में संलग्न थे। स्वामीजी के सम्पर्क में आने पर वे समझ गये कि एक राष्ट्र को उन्नत करने के लिए उसके एक अंश मात्र की उन्नति से काम न होगा। गरीबों, दलितों और पिछड़े वर्ग के लोगों को उठाये बिना राष्ट्र का यथार्थ उत्थान न होगा। स्वामीजी से मुलाकात के बाद वे निम्नश्रेणी के लोगों की उन्नति के लिए भी प्रयास करने लगे थे। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् रोमाँ रोलाँ के अनुसार तिलक द्वारा प्रवर्तित महान् राजनीतिक आन्दोलन का बीज स्वामी विवेकानन्द के गुरु-गम्भीर राष्ट्रीय आह्वान में निहित है ।

○

विवेकानन्द जयन्ती समारोह-१९८४

का र्य क्र म

स्वामी विवेकानन्द का १२२वाँ जन्मतिथि-महोत्सव

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) मंगलवार, २४ जनवरी १९८४

विद्यार्थियों के लिए विभिन्न प्रतियोगिताएँ

* शनिवार, २१ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

* रविवार, २२ जनवरी .. प्रातःकाल ८॥ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

एवं

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

* रविवार, २२ जनवरी .. सायंकाल ५ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

* सोमवार, २३ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

* मंगलवार, २४ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

* बुधवार, २५ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

* गुरुवार, २६ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

* शुक्रवार, २७ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्प्राथमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

* रविवार, २९ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्‌घाटन

*

* ३० जनवरी से ७ फरवरी तक .. सायंकाल ७ बजे

रामायण प्रवचन

प्रवचनकार : पण्डित रामकिंकर जी महाराज

*

* ८ फरवरी से १२ फरवरी तक .. सायंकाल ७ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : (१) श्रीमती कृष्णादेवी मिश्र
(२) श्री राजेश रामायणी
(३) स्वामी आत्मानन्द

**

श्री माँ सारदा देवी का १३१ वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) सोमवार, २६ दिसम्बर १९८३
सार्वजनिक सभा (सत्संग भवन में) १-१-८४ को सन्ध्या ५ बजे

**

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव का १४९ वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) रविवार, ४ मार्च १९८४
सार्वजनिक सभा (सत्संग भवन में) ११-३-८४ को सन्ध्या ५॥ बजे

***